श्री वर्णी साहित्य मन्दिर

प्रवक्ता—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द'
महाराज द्वारा रचित

आत्म कीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्धसमान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ॥५॥
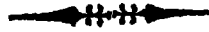
प्रतिष्ठापिका—

श्री वर्णी साहित्य मन्दिर

श्रीमती दानशीला धनवन्तीदेवी धर्म पत्नी स्व०

श्री ज्ञानचन्द्र जी जैन, इटावा।

प्रवर्तक सदस्य—

श्री रंगलाल रतनचन्द्र जैन, पंसारी टोला, इटावा

प्राक्कथन

अज्ञानतिमिरान्धाना, ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षु रुन्मीलित येन, तस्मै श्री गुरवेनमः॥

वन्धुवर !

आज आपके समक्ष "षोडस कारण भावना" का प्रवचन संकलन प्रस्तुत करते हुए हम हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। यह श्री वर्णी साहित्य मन्दिर का प्रथम पुष्प आपके कर कमलो मे सादर समर्पित है।

साहित्य व संस्कृति समाज का वह दर्पण हैं जिससे प्रगति व उन्नयन का हम स्पष्ट दर्शन कर पाते है। जहां प्राचीन साहित्य का मनन, अध्ययन व अध्यापन चलता है और नवीन साहित्य का सृजन, संकलन तथा प्रकाशन की सुन्दर व्यवस्थायें समाज द्वारा होती हैं, वही नवचेतना, ज्ञान-वृद्धि व प्रगतिशीलता के दर्शन होते है। "साहित्य मन्दिर" का उद्देश्य सत्साहित्यका संकलन व प्रकाशन करने के साथ ही साथ साहित्यकार मनीषियोको प्रोत्साहन देना एवं उदीयमान कुशाग्र विद्यार्थियोको आध्यात्म विषयक साहित्य के सृजनात्मक व अध्ययनात्मक साधन उपलब्ध कराने मे यथेष्ट योगदान देना भी है।

इटावा जैन समाजको १९६४ मे परम पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी 'वर्णी' का चातुर्मास कराने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। पूज्य वर्णीजीका समागम बडे सौभाग्य से प्राप्त होता है। आपमे लोकोत्तर सहनशीलता, अपार करुणा और अक्षुण्ण ज्ञानकी त्रिवेणी सदैव प्रवाहित रहती है। गहन अध्ययन, अपरिमित ज्ञान, और वैराग्य के साथ ही साथ आप मे वात्सल्य व लोककल्याणकी पवित्र भावनाके दर्शन होते है। अध्यात्म विषयकी दृष्टिसे द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोगादि के गहनतम विषयोको सरल सुबोध व सूक्ष्मतम पद्धति से प्रवचन करना आपका नित्य प्रतिका कार्यक्रम है।

भावनायें सोलह है—(१) दर्शन विशुद्धि (२) विनय सम्पन्नता (३) शीलव्रतानतिचार (४) अभीक्षण ज्ञानोपयोग (५) सवेग (६) शक्तितस्त्याग (७) शक्तितस्तप (८) साधुसमाधि (९) वैयावृत्यकरण (१०) अर्हद्-

भक्ति (११) आचार्यभक्ति (१२) बहुश्रुतभक्ति (१३) प्रवचनभक्ति (१४) आवश्यकापरिहाणि (१५) मार्गप्रभावना (१६) प्रवचनवात्सल्य। इनमे सर्व प्रथम "दर्शन विशुद्धि" को भावना कही गई है। दर्शन विशुद्धि भावना अनिवार्य और प्रधान है। इसीलिए इस दर्शन-विशुद्धि की भावना का विभिन्न दृष्टिकोणो से एवम् आध्यात्मिकता की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक मे विस्तृत प्रवचन किया गया है। इसमे दर्शन विशुद्धि से हमे कैसी दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है तथा कैसे भेद विज्ञानकी विवेक बुद्धि जाग्रत होती है? जिसके कारण उत्कृष्ट तीर्थंकर पुण्य प्रकृतिका बध होता है आदि इसके वर्णित विषय हैं।

आजकल समाजमे एक ओर से ऐसी भी चर्चा सुनने में आती है कि पुण्य प्रकृति हेय (छोड़ने योग्य) है और बन्ध का कारण है आदि। उक्त षोडश भावनाओ को उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति कहा गया है पुंण्य हेय होते हुए भी किस प्रकार उपादेय और मोक्ष का दाता है? पुण्य कार्य मे दर्शन विशुद्धि का कितना महत्वपूर्ण स्थान है? यह भी प्रस्तुत सकलन मे आप पावेंगे। निश्चय नय व व्यवहार नय की दृष्टि से दर्शन विशुद्धि का क्या स्वरूप है? वह कौनसा अभाव है जिस कारण ज्योतिर्मय, प्रकाशमान, ज्ञानपुञ्ज एवं ज्ञानस्वरूप होते हुए भी यह आत्मा मोह, ममता अज्ञानादि की कालिमा से मलिन हो रही है। इस मलिनता को दूर करने के लिए कौन सा वह साबुन है जिससे इसकी यह कर्मकालिमा दूर होसके। क्या दर्शन विशुद्धि को समझे व आचरित किये बिना देव-पूजा, गुरु की उपासना स्वाध्याय, सयम, तप आदि क्रियाओं से विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होसकती है?

हम अपने जीवन मे एक दूसरे को सुख दुःख का दाता मानकर पारस्परिक मनोमालिन्य पैदा कर लेते हैं अपने को दूसरो का उपकारी मानकर देहाभिमान करने लगते हैं जब कि यथार्थ बात यह होती है कि अपने सुख के अपने दुःख के एकमात्र निर्माता हम हैं अपने जीवन के सचालक, और अपने भाग्य विधाता हम है। आप पूज्य गुरुवर्य क्षु० मनोहर जी के इन सकिलित प्रवचनों में दैनिक जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान, निमित्त-उपादान का सम्बन्ध, जीवन और दर्शन की व्याख्या का वर्णन आध्यात्मिक शैली से पावेंगे।

षोडश कारण पर्व भाद्रमास मे जैन समाज द्वारा अपूर्व

उत्साह, व्रत-उपवासादि, के साथ मनाये जाते हैं। मन्दिरो में शास्त्र प्रवचन होते हैं। इस चातुर्मास के पर्यूषण पर्वमे पूज्य वर्णी जी द्वारा सोलह कारण भावनाओं पर भावपूर्ण विवेचन हुए, इसी अवसर पर इटावा की जैन समाज मे यह भावना पैदा हुई कि यह तोषदायिनी ज्ञान गङ्गा की विमल सलिल-धारा जन साधारण के मानस को सदा प्रक्षालित करती रहे, । सुख व शान्तिका दिव्य सन्देश देती रहे, घर २ आध्यात्मिक आलोक हो। अतः यहां वर्णी साहित्य मन्दिर की स्थापना की जावे और उसका साकार रूप तब निखर उठा जब कि स्वनामधन्या दानशीला श्रीमती धन्वन्ती देवी जी के मनमे भी उक्त भावना जागृत हुई। आपने प्रातः स्मरणीय परम पूज्य गुरुवर्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के चातुर्मास प्रवास के सुअवसर पर जैन दर्शन व सस्कृत भाषा के अध्ययनार्थ 'श्री ज्ञान धन दि० जैन धर्मार्थ निधि' की स्थापना ७५०००) नगद व दो भवन दान में देकर की थी। आज भी संस्कृत विद्यालय; प्रायमरी व माध्यमिक पाठशाला में करीब ४०० छात्र छात्राये प्राथमिक शिक्षा से लेकर काशी की शास्त्री परीक्षा तक की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

आपका जीवन जहां निरन्तर धर्म साधना में रत रहता है वही ज्ञान-दान में भी अग्रणी है चूंकि शिक्षा क्षेत्र का ही एक अभिन्न अङ्ग साहित्य प्रकाशन है अतः आपने साहित्य मन्दिर को आजीवन १००) मासिक सहायता प्रदान करने के विचार व्यक्त किये, फलतः भादों वदी ८ दिन रविवार दिनाक ३० अगस्त १९६४ के शुभ महूर्त में पूज्य क्षु० मनोहर जी वर्णी के सान्निध्य मे श्री वर्णी साहित्य मन्दिर की स्थापना हो गई। और इसका यू० पी० सरकार से रजिस्ट्रेशन करा लिया गया।

दिसम्बर मास मे पूज्य वर्णी जी का बिहार होगया किन्ही कारणों वश कार्य मे शिथिलता बनी रही। कुछ समय बाद तत्कालीन मन्त्री महोदय ने समयाभाव के कारण साहित्य मन्दिर का कार्य वहन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की, इसी अवधि मे सौभाग्य से श्री जयन्ती प्रसाद जी जैन खजान्ची जिन्होने स्टेट बैंक के हेडकेशियर के पद से अवकाश प्राप्त कर लिया था, उनकी ओर दृष्टि गई और उनसे इस कार्य भार को ग्रहण करने का आग्रह किया गया। और इसी हेतु दिनाङ्क २६ जनवरी १९६६ को कार्य कारिणी की एक बैठक हुई जिसमे पत्र खजान्ची साहब से मन्त्री पद

ग्रहण करने की प्रार्थना को गई, जिसे उन्होने स्वीकार कर लिया। इसी से कार्य मे गतिशीलता आई और स्वल्प समय मे ही यह प्रकाशन आपके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। आपकी लगन सचमुच अनुकरणीय एव प्रशंसनीय है।

साहित्य मन्दिर की स्थापना मे तथा प्रगति मे सबसे महान् योगदान तो पूज्य क्षु० मनोहर जी वर्णी का हो है। उन्ही की कृपा का सब कुछ यह प्रतिफल है उनकी इस महती कृपा का हम हृदय से आभार मानते हुये अपनी श्रद्धाजलि समर्पित करते हैं। साथ ही हम श्रीमती धनवन्ती देवी व उन सभी दातार महानुभावो के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करते हुए धन्यवाद देते हैं जिन्होने अपना सुकृत धन साहित्य मन्दिर को प्रदान कर उसकी उन्नति में योगदान दिया है।

अन्त मे विद्वज्जन पाठक महानुभावो से निवेदन है कि प्रस्तुत पुस्तक को आद्योपान्त अवश्य पढ़ें। और सकलन में त्रुटि हुई हो उसे क्षमा करें।

इटावा
दिनाङ्क २८ फरवरी १९६६

प्रेमचन्द्र जैन
उपाध्यक्ष श्री वर्णी साहित्य मन्दिर,
इटावा।

षोडशभावनाप्रवचन

प्रवक्ता—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०
मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

मनुष्य पर्यायकी श्रेष्ठता—इस लोकमें जितने भी जीवोंके पर्यायस्थान हैं उन सबमें श्रेष्ठ पंचेन्द्रिय पर्यायका स्थान है, जहां पांचों इन्द्रियोंका विकाश है और मनका भी विकाश है, उनमे भी देव और मनुष्य इन दो गतियोंका उच्चस्थान है। इन दोनोंमें भी मनुष्यगतिका उच्च स्थान है। यद्यपि देवोंमें बड़ी ऋद्धिधारी देव होते हैं जिनका आंतरिक और बहिरङ्ग वैभव है, किन्तु मनुष्यका स्थान देवोंसे भी अधिक है, जिस कालमे तीर्थंकरको वैराग्य उत्पन्न होता है उस समय मनुष्य और देव इन्द्र सब आते हैं तथा प्रभुको पालकीमे बैठालकर ले जानेका प्रोग्राम करते है। पालकी सजा दी जाती है, तीर्थङ्करको वैठालते है उस कालमे देव इन्द्र पालकीमे हाथ लगाते है तो मनुष्य रोक देते हैं इस पालकीको हम उठायेंगे। इन्द्र कहता है कि हमने गर्भ कल्याणकमे, जन्म कल्याणकमें बड़ा समारोह किया, जो सबसे नहीं किया जा सकता ऐसा समारोह किया। फिर हमे क्यो अधिकार न होगा कि हम पालकीको स्वयं ले जायें। मनुष्योंने एतराज किया तो निर्णयके लिए कुछ प्रमुख बैठा लिए गए। निर्णयमें यह सुनाया गया कि तीर्थङ्करकी पालकीमे वही हाथ लगायेगा जो तीर्थङ्करके साथ जाकर उन जैसी वृत्ति बनाकर उनके सदृश निर्वाणको प्राप्त होसके। तब इन्द्र मानो पल्ला पसारकर भीख मांगने लगा कि ऐ मनुष्यो! हमारी जितनी इन्द्रपने की सम्पदा है वह तुम सब ले लो, पर मुझे मनुष्यत्व दे दो। मनुष्यका स्थान देव गतिसे भी उपरिम है।

तीर्थङ्करकी सर्वश्रेष्ठता—मनुष्योंमें भी बड़ा वैभव माना जाता है नारायणका, क्योंकि नारायण तीन खण्डके अधिपति होते हैं। उनसे भी बड़ा वैभव होता है चक्रवर्तीका, वे होते है ६ खण्डके अधिपति। किन्तु, चक्रवर्ती जैसे महापुरुष भी, नारायण जैसे महापुरुष भी जिन तीर्थङ्करोके पूजनमे पहुंचें जिनके उपदेश सुनकर अपनेको कृतार्थ मानें, वैभव तो उनका बड़ा है। लोकमें तीर्थङ्करसे उच्च

वैभव किसीका नहीं माना जाता। वैभवके साथ सबसे बडी विशेषता यह है और उस वैभवका कारणभूत भी यह भाव है कि वे धर्मतीर्थके विशेष नेता होते हैं। तीर्थकी प्रवृत्ति वे करते हैं। यद्यपि धर्मका प्रवाह अनादिकालसे परम्परासे चला आरहा है फिर भी जब-जब धर्मकी कमी होती है, हानि होती है, ग्लानि होती है उस-उस समयमे तीर्थङ्कर जैसे महापुरुष उत्पन्न होते हैं और वे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करते हैं।

तीर्थङ्करकी विशेषता—तीर्थङ्कर प्रभु नियमसे निर्वाणको प्राप्त होते हैं, और जब तक वे निर्वाणको प्राप्त नहीं हुए तब तक उनकी चर्या, मुद्रा, ध्वनि, उपदेश आदि के कारण लोगोंका महोपकार होता है। आज जितना भी हम आप धर्मका प्रकाश पाये हैं इस आत्मप्रकाशके मूल हैं तीर्थङ्करप्रभु, ये जीवोंके शरणभूत भी होते हैं। तीर्थङ्कर कौन होता है, कैसे होता है ? वे कौनसे परिणाम हैं जिन परिणामोंके प्रसादसे तीर्थङ्करत्व होता है, यहाँ उन परिणामोंका वर्णन किया जारहा है। वे परिणाम सोलह कारण भावनाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें से प्रथम भावना है दर्शनविशुद्धि।

१—दर्शनविशुद्धि

तीर्थङ्कर होनेका प्रमुख कारण—सम्यग्दर्शन होनेपर जो एक विलक्षण अलौकिक विशुद्धि उत्पन्न होती है उसका नाम है दर्शनविशुद्धि। सम्यक्त्व तीन प्रकारके होते हैं – औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व। औपशमिक सम्यक्त्वके भी दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। तीर्थङ्कर प्रकृतिका बध इन चारों सम्यग्दृष्टियोंमें कोई भी सम्यग्दृष्टि कर सकता है और चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सप्तमगुणस्थान पर्यन्त तकके कोई भी आत्मा तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध कर सकते हैं। केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें ही तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध होता है। तीर्थङ्कर प्रकृति बँध सके ऐसे परिणामोकी निर्मलता केवली और श्रुतकेवलीके निकट कुछ होती है। उस समय प्रभुके गुणोंका साक्षात् परिचय पाता हुआ यह सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनेमें सुगम स्वाधीन आनन्दका अनुभव करनेके कारण जगतके जीवोंपर जब दृष्टि देता है तो उसे एक परम करुणा उत्पन्न होती है।

अपार करुणा—अहो ज्ञानानन्द स्वरूप ही तो विश्वके सकल जीव हैं, ये स्वयं ज्ञानमय हैं और आनन्दमय हैं। एक अपने आपमें दृष्टि जाये विना कितना महान अन्तर आगया है कि यह देहोंको धारण करता है और नाना प्रकारके कर्मोंका भार लादे रहता है। सकल्प विकल्पमें बसकर अपना विपरीत परिचय कररहा है। खेद इस बातका है कि सारे संकट न रहनेका इस आत्माका

स्वभाव है और सारे संकट मिटनेकी एक सुगम चिकित्सा है, इतनेपर भी भ्रमवश इतना बड़ा विवाद विसम्बाद खड़ा होगया है। वैसे भी लोकमें जितने झगड़े हैं उन झगड़ोंकी मूल जड़ बहुत छोटी होती है जो न कुछ के बराबर है, किन्तु उस न कुछ के बराबरमें मूल बातको न सम्हाल सकनेसे ऐसी स्थितियां बन जाती हैं कि वह झगड़ा बड़ा विकट रूप रख लेता है। झगड़ेकी जड़ मूलमें कभी बड़ी होती ही नही है। किसीसे विकट झगड़ा हो गया हो और उनसे बात जानना चाहो तो कुछ बतावेंगे कारण। फिर पूछो यह किस कारण हुआ तो उसका कारण बतावेंगे, जो न कुछकी तरह है अथवा भ्रमरूप है। देखो झगड़ा इतना विकट बन गया और मूलमें वहाँ कुछ नहीं है। ऐसे ही इस जीवका यह विसम्वाद इतना विकट बन गया जैसे पशु पक्षी, कीड़ा मकोड़ा, मनुष्य आदि शरीरोंमें यह है, कैसा बंधनको प्राप्त है, छूट नहीं सकता, मुरक नहीं सकता। मुरकेगा उपायसे, मगर वर्तमान बन्धन देखो कितना विसम्वाद है, मरनेके बाद फिरभी ऐसा ही कुछ देह धारेगा।

परमकरुणामय दर्शनविशुद्धिका प्रताप—अहो यह जीव कैसी विडम्बनावोंमें बना रहता है, उस सबकी जड़ कितनी है? एक थोड़ीसी कि जो स्वयं नहीं है इसका नहीं है ऐसे बाह्य पदार्थोंमें, यह मैं हूँ इतनी कल्पना भर की और बेचारेने डबल अपराध कुछ नहीं किया, न शिला पटकी, न पर्वत चूरे, न कोई विपदा ढाई, कुछ उपद्रव नहीं किया, अपने आपमें केवल इतना भाव बनाया कि यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, इतने से भाव बनाने मात्रका इतना बड़ा दण्ड मिल रहा है कि विभिन्न-विभिन्न शरीरोंका इसे बोझा ढोना पड़ रहा है और मानो कुछ ऐसा ही दण्ड मिल रहा है कि लो, मानलो और कितना मानोगे। इस घरको भी अपना मानलो, इस वैभवको भी अपना मानलो। अपने तो ये होते ही नहीं लेकिन चिंताओं और विपदाओंका भार लादा जारहा है। न कुछ बातपर इतनी विडम्बना है। सुगम चिकित्सा है, स्वरूप ही ज्ञान और आनन्द है, किन्तु एक दृष्टिको पाये बिना यह सारा क्लेश जाल सह रहा है यह जीव। यह सद्बुद्धि पाये, सद्दृष्टि पाये, आपमें अपने आपकी ओर मुड़े ऐसी अपार करुणा होती है और इसके साथ अन्य भी यथायोग्य भावना बनती है उस कालमें इसके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

ज्ञानियोंका ध्येय—तीर्थंकर प्रकृतिकी बात सुनकर यह ध्यानमें नहीं लाना कि मुझे भी तीर्थंकर प्रकृति बँधे। मांगनेसे भीख नहीं मिलती, इतनी बड़ी बात कि मैं तीर्थंकर बनूं और ऐसे-ऐसे वैभव वाला रहूँ, ऐसी बुद्धिवालोके तीर्थंकर प्रकृतिकी आशा नहीं है। जो विशुद्ध ज्ञानी है, अंतरंगसे विरक्त है, इस संसारसे भयभीत है, अपने स्वरूपका रुचिया है, ऐसा स्वच्छ अन्तरात्मा ही

तीर्थंकर प्रकृतिके बंधका पात्र होता है। एक ही अन्तर ध्वनि हो—चलो अपने स्वरूपमें चलो। दूसरे प्रोग्राम न सोचो। बढ़े चलो, अपने स्वरूपमें बढ़े चलो। अपनी अन्तर्दृष्टिमें दृढ़ होते चलो। एक यह कार्यक्रम हो, अन्य बात न मनमें लावो कि मैं तीर्थंकर बनूं। होना होगा जो होगा, पर अपने विचारपूर्वक केवल यह ध्वनि होना चाहिये कि जो जैसा है वैसा ज्ञात रहा करे, मैं जैसा हूँ वैसा ज्ञाता रहा करूं, यही स्वरूपका प्रवेश है। यह ही अन्तरमें वांछा हो, ऐसा निष्कांक्ष निष्पृह पुरुषके तीर्थंकर प्रकृति बँध सकती है। न बँधे तो क्या? एक स्वरूपविकाश चाहिए, ऐसी उदार और निष्पृह वृत्तिमें अन्तरात्माके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

तीर्थङ्कर प्रकृतिबन्धकी कारणभूत भावनायें—तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणभूत सोलह भावनाएँ हैं, दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतानतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, सम्वेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितःतप, साधुसमाधि, वैयावृत्य, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना, प्रवचनवत्सलत्व इन सोलह भावनाओंमें से प्रथम है दर्शनविशुद्धि, यह प्रमुख भावना है। दर्शनविशुद्धि न हो, शेष पंद्रह भावनाएँ हों, प्रथम तो ऐसा सम्भव नहीं, सम्भव भी हो जाय, तो भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध नहीं होता है। एक दर्शन विशुद्धि हो और शेष पन्द्रह भावनाओंमें से कुछ थोड़ी ही भावना हो, न हों पन्द्रहों, तो भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो सकता है।

सम्यग्दृष्टिके देवत्वकी श्रद्धा—दर्शनविशुद्धिमे सम्यक्त्वकी निर्मलता चाहिए। सम्यक्त्वके मल हैं २५। शंका आदि ८ दोष, ८ मद, ६ अनायतन और तीन मूढता। इन २५ प्रकारके दोषोंसे रहित सम्यक्त्व प्राप्त हो और फिर अपार स्वपरकरुणा हो वहाँ तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध होता है। सर्वप्रथम धर्ममार्गमें कदम रखनेपर देव, शास्त्र, गुरुका प्रसंग होता है। देव कौन है? जो वीतराग है और सर्वज्ञ है, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप शुद्ध विकाश है वह ही देव है। ऐसे स्वरूपको छोड़कर अन्य चरित्र वाले, लड़ाई करने वाले, स्त्री रखने वाले और यत्र तत्र विलास करने वाले अथवा यहाँ वहाँ से चीज उठाकर लाने रखने वाले, शस्त्रके धारण करने वाले, विकृत भेषके रखने वाले ऐसे कोई भी जीव उस देवत्वको नहीं पाते हैं। देवत्व तो मात्र वीतराग है और सर्वज्ञता है। जो वीतराग है सर्वज्ञ है वह है देव। चाहे किसी नाम वाला हो, नामकी पूजा नहीं होती है। ऐसे देवस्वरूपको भूलकर अन्य किसीमे भी देवत्व न मानना ऐसी दृढ़ता और निर्मलता होना, यह प्रथम आवश्यक है।

सम्यग्दृष्टिकी शास्त्रमें श्रद्धा—शास्त्र जो ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षाकी बात कहे वह शास्त्र है। जो ज्ञान वैराग्यके विपरीत रागमें लीनताकी शिक्षा दे वह

शास्त्र नहीं है। शास्त्रके विषयमें भी इस अन्तरात्माको निर्दोष श्रद्धा होती है। कभी भी यह मनमें संदेह नहीं होता कि शास्त्रमें यह बात कुछ गलतसी मालूम होती है, यदि गलत हो तो वह शास्त्र परम्पराकी बात नहीं है, या तो हमारी समझमें ठीक नहीं बैठा अथवा किन्हीं स्वार्थियोंने रागवश कुछ इसमे जोड़ दिया, किन्तु परम्परागत जिसे आगम कहते हैं उसमे कोई भी आदेश उपदेश अथवा चर्चा असत्य नहीं हो सकती है। शास्त्रके विषयमें इतना निर्मल दृढ़ श्रद्धानी भी यह अन्तरात्मा होता है।

सम्यग्दृष्टिके गुरुत्वकी उपासना—यह निर्दोष सम्यग्दृष्टि पुरुष उसे ही गुरु मानता है जो विषयोंकी आशासे दूर हो, रंच मात्र भी आरम्भ न करता हो। गुरु तो दर्शनीय हुआ करते हैं, उनकी मुद्रा निरखकर हितकी शिक्षा मिला करती है। कोई आरम्भ करने वाला हो, खटपट धराई उठाई, उसको देखकर हम क्या शिक्षा लें। गुरु आरम्भरहित होते है और परिग्रहरहित होते हैं। गुरुका कार्य तो ज्ञान ध्यान और तपस्या है। उत्कृष्ट काम है ज्ञानका, ज्ञाता मात्र रहे। जब ज्ञानकी स्थितिमें कुछ अन्तर आये अर्थात् ज्ञाता दृष्टा न रह सके, ज्ञानस्वरूपमें स्थिर आलम्बन न बन सके तो लगे ध्यानमें, तत्त्व-चिंतनरूप ध्यानमें लगें और जब ध्यानमें भी स्थिरता न हो तो नाना प्रकारकी तपस्याओंमे लगे। ज्ञान ध्यान तप इन तीनोंके सिवाय चौथे कार्यके अनुरागकी आज्ञा गुरुको नही है तीर्थंकर प्रभुकी। ऐसे गुरुस्वरूपको छोड़कर भेषधारी अथवा विपरीत भेषधारी गुणशून्य पुरुषमें गुरुत्व माननेकी श्रद्धा सम्यग्दृष्टिके नहीं होती है। चलो, अपनेसे तो भले ही हैं, यह कसौटी विवेकीकी नही है। परमेष्ठीका स्वरूप निर्दोष होता है तब श्रावक लोग उनकी उपासना करके अपना हित कर सकते हैं। ऐसे साधुमें गुरुत्वकी श्रद्धा यह अन्तरात्मा रखता है। इसके विपरीत किसीमे भी गुरुत्वकी भावना नहीं करता।

कार्यमें सफलताके लिये प्रथम प्रसंगका एक उदाहरण—किसी भी कार्यमें सफलता प्राप्त करनी हो उसमें उस प्रकारके देव, शास्त्र और गुरुका प्रसंग हुआ करता है। जैसे संगीत सीखना है किसीको, तो संगीतशिक्षाके अर्थीको एक तो वह भान रहना चाहिए जोकि उसकी दृष्टिमें सारे विश्वमें सर्वोत्कृष्ट निपुण हो, चाहे उसकी सकल देखी हो या न देखी हो। संगीतमे अमुक बड़ा प्रसिद्ध है, ऐसा उसकी दृष्टिमें जो रहता है, वह तो हुआ संगीत मार्गका देव। और जो उसे समयपर शिक्षा देनेवाला उस्ताद मिले तो वह हुआ संगीतका गुरु। अपने गाँवमें वह संगीत सिखाता है उसका वह प्रयोगिक रूप बनाता है, तथा संगीतकी कला जिन पुस्तकोंमे लिखी है वे हुए संगीत शास्त्र। अब देखो संगीत शिक्षामें अपनी कुशलता चाहते हुएमें ये तीन बातें आती ही हैं। उसकी दृष्टिमें

सर्वोत्कृष्ट संगीतका निपुण विदित है और वह अपने पास पड़ोसके उस्तादोंसे भी सम्बन्ध रखता है, सा रे गा मा का बोध करानेवाली किताबोको भी देखता है। आरोह, अवरोह, सम विषम आदि स्वरोंके चिन्होको समझता है। यों देवशास्त्रगुरुविषयक प्रसङ्ग हो वहाँ संगीतविषयक निपुणता पा ली जाती है।

उदाहरणसहित धर्ममार्गके देवकी सिद्धि—इसी प्रकार धर्ममार्गमें भी देव-शास्त्रगुरुका प्रसङ्ग हो, यथार्थ संग हो तो धर्ममार्गमें भी सफलता पा ली जाती है। धर्म मार्गका देव कौन है जो पूर्ण धर्ममय है, क्षुधा आदिक १८ दोषों से रहित है वीतरागसर्वज्ञ अथवा इस प्रकरणके हितैषी भी मिल जायें ऐसा जो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप विकाश वाला हो वह भी हमारे धर्म मार्गमें सहायक है। जैसे संगीतमार्गमें चलनेवालेसे पूछो कि तुम्हें क्या बनना है? तो जो संगीतमें सर्वोत्कृष्ट विदित है उसका नाम लेकर कहता है कि हमें यह बनना है। इसी प्रकार धर्ममार्गमें चलनेवाले ज्ञानी संतोंसे पूछा जाय कि तुम्हें क्या बनना है? तो उसके इस प्रश्नके समाधानमे जिसपर संकेत जाय बस वही तो देव है, हमें अरहंत होना है, सिद्ध होना है, सर्वशुद्ध ज्ञानमात्र होना है, किन्हीं शब्दोंसे कहो, जो आदर्श लक्षित हुआ वही देव है।

उदाहरणसहित धर्ममार्गके शास्त्रोंके आलम्बनकी सिद्धि—जैसे संगीतशिक्षार्थी को संगीतशास्त्र बिना निपुणता नहीं आ पाती है सा रे गा मा पा धा नी सा इन, सप्तस्वरोंके भंगरूप नाना प्रकारके राग लिखे हैं और साथ ही उसमें सम विषम कोमल कठिन स्वरोंका संकेत दिया होता है। उनके सहारे सिद्धान्तानुकूल संगीतमें निपुणता होती है यों ही धर्ममार्गके शास्त्रोंको निरखकर जिसमें ज्ञान और वैराग्यके पोषक वस्तुस्वरूपका वर्णन किया है उसका अभ्यास करता है और उसको अपने प्रयोगमें लाता है वही पुरुष तो धर्ममार्गमें सफल होगा। धन्य है वह ज्ञानी पुरुष, गृहस्थ हो अथवा साधु हो, जिसको यह दृढ़ श्रद्धान है कि मेरा सर्वस्व मैं ही हूँ, मेरा सर्व कुछ हित अहित सुख दुःख मेरे स्वरूप परिणमनसे होता है। अन्यके किसी प्रकारके श्रमसे इस मुझमे आत्मसुख नहीं होता है।

धर्ममार्गका प्रयोग व प्रयोक्ताका आलम्बन—भैया! बाह्य भूमिकासे उठकर अन्तःस्वरूपमें प्रगति करना यही एक मार्ग है और इस मार्गसे ही हमें चलना है, पर जैसे भीतपर चींटी चढ़ती है, गिरती है, फिर चढ़ती है, फिर गिरती है, फिर चढ़ती है, वह चढ़नेका उपक्रम न छोड़े तो चढ़कर ही रहती है यों ही हम वस्तुस्वरूपके निर्णयमें होते है और कभी चिगते भी हैं, फिर निर्णयमें आये फिर चिगे फिर निर्णयमें आये। कितनी भी परिस्थितियां बन जायें, पर एकही अपना निश्चय रक्खे वह, मुझे तो वस्तुस्वरूपके यथार्थ अवगमसे आत्मस्वरूप

की ओर ही चलना है तो सत्यस्वरूपमें पहुंचकर ही रहेंगे। हिम्मत नहीं हारना, उद्देश्य सही बनाना। उद्देश्यविहीन पुरुष सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि पता ही नहीं उसे, क्या करना है। नकल कर रहा है वह तो। यों शास्त्रका बहुत बड़ा सहारा है इस मुमुक्षुके। यों इसके प्रयोगकालमें जैसे संगीत शिक्षार्थीको उस्तादका सहारा आवश्यक है इसी प्रकार इस धर्मार्थीको धर्ममार्गके यथार्थ श्रद्धानी और प्रयोक्ता गुरुका सहारा आवश्यक है।

दर्शनविशुद्धके सप्ततत्त्वका श्रद्धान—इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरुकी उपासना करता है और यथार्थ निर्णय रखता है ऐसा दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा परकरुणाके भावके बलसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है। देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धासे आगे उनके ही बताये हुए मार्गमे तत्त्वका यथार्थ श्रद्धान करता है, सप्ततत्त्वमें दो तो मूल तत्त्व हैं जीव और अजीव, क्योंकि सब विस्तार इन दोनों पदार्थोंके कारण ही है। जीव मायने यह चेतन जिसके प्रसंगमे भला बुरा सब कुछ परिणमन दिखाया जा रहा है और अजीवके मायने है पौद्गलिक कर्म, इन दोनोंके कारण कैसा पञ्चतत्त्वी विस्तार है ? अब उसे सुनिये।

आस्रव तत्त्वका ईक्षण—जीवमें अजीवका आना आश्रव है। अपनेमें कर्मोंका आना आश्रव है। आश्रव आनेको कहते हैं और चू कर आये, जैसे पहाड़से झरना निकलता है तो ऊपरसे कुछ पता नहीं पड़ता। चू कर आता है वह पानी। यो ही आत्मप्रदेशमे चू कर आती है यह कर्मधारा। विदित नहीं हो पाता कि कहां से आये, कैसे आये। कोई पुरुष कितना ही मायाचार करे ऊपरसे बने बगुलाभगत और भीतरमे रहे मायाचार तो उसकी यह चेष्टा कर्मदण्डसे नही बचा सकती है। कर्म तो चूकर आते हैं, आश्रवण होकर आते हैं, कोई रोक नहीं सकता। मन, वचन, कायकी कुछ बनावटी बातें करे और चाहे कि वहां हमारा मोक्षमार्ग बने, कर्मनिर्जरा हो तो नहीं होता है। ये कर्म दिखाकर नहीं आते। ये तो अन्तरसे ही आश्रवणको प्राप्त होते हैं। इसलिये भीतरको सम्हाले तो यह श्रोत बन्द होगा ऊपरसे सम्हालनेसे यह श्रोत बन्द नहीं होता। उसमें धाराका प्रवाह चलता ही रहता है।

बन्ध तत्त्वका ईक्षण—आयें कर्म और आकर सीधे ही चले जायें तो कुछ पाप नहीं था, किन्तु कर्म बँधकर रह जाते हैं। गरीब हालतमे पाहुने आयें ५० तो पानी पीकर चले जायें, अच्छी बात है और कोई जमकर ही रहजाय तो आफत मालूम होती है ! ये कर्म महिमान हैं, और यह अपने आपमें गरीबी बसी है। ये कर्म महिमान कहलाते हैं महिमानका अर्थ है-महिमा न, जिसकी कुछ महिमा नहीं, कुछ बड़प्पन नही। जैसे कोई रिश्तेदार आजाय, फूफाजी

आगये या और कोई आगया तो उसका बड़ा सत्कार होरहा है पर उस गृहस्थके उपयोगमें जैसी महिमा अपने लड़केकी बसी है क्या वैसी महिमा फूफाजी की है ? अथवा कोई भी हो दूसरा । रिस्तेदार तो महिमान कहलाते हैं। महिमा न। यों ही ये कर्म महिमान कहलाते हैं, इनकी महिमा कुछ नहीं है। यदि ये आते है और आकर चले जायें तो इस गरीबको, इस संसारी प्राणीको कुछ गमकी बात नहीं है, किन्तु ये आते हैं और जमकर रह जाते हैं। इस समय हम और आपके जो कर्म सत्त्वमे हैं कहो अबसे कोड़ाकोड़ी करोड़ो भवों पहिलेके बांधे हुए कर्म भी हो ऐसा जमकर बंध जाते हैं। यह हुआ बन्ध। ये आश्रव और बन्ध हेय हैं, अहित करते हैं। इनको टालनेके लिए यथार्थ स्वरूपका ज्ञान चाहिये। यहां तक तो हुई संसारविधि।

मोक्षविधि—अब सुनिए मोक्षविधि। इस जीवमें अजीव न आ पाये यह हुआ सम्वर अर्थात् जीवमें कर्मोंका आश्रव न होना। और, जीवमे पहिलेके बँधे हुए जो कर्म हैं उनका झरना यह है निर्जरा। सम्वर रहे और निर्जरा चलती रहे तो एक दिन वह अवश्य आयगा कि इसका मोक्ष होगा, छुटकारा होगा। यों सम्वर और निर्जरा उपाय तत्त्व है, उपादेय तत्त्व है। ये कहलाते हैं उपादेय उपाय। और मोक्ष अवस्था कहलाती है उपादेय उपेय। उपादेय भी है और उपेय भी है मोक्ष।

ज्ञानीका वर्तमान निर्णय—यह सम्यग्दृष्टि पुरुष प्रयोग्य तत्त्वके सम्बन्धमे यों यथार्थ निर्णय बनाये है—मेरे दु:खोंको उत्पन्न करनेवाला मेरा आश्रव भाव है। अन्य कोई भी पदार्थ मेरेको कष्टदायी नहीं है। राग मोह रोष ये ही दु:खोंकी खान है। अज्ञानी जनोकी श्वानदृष्टि होती है। जैसे कुत्तेको कोई लाठी मारे तो वह लाठीको चबाता है। आक्रान्ता जो पुरुष है उसपर दृष्टि नहीं जाती है, इसी कारण कुत्तेको लोग दुत्कार देते है। ऐसे ही अज्ञानी जीव जो सामने आश्रयभूत पदार्थ आता है अपने कष्टके समयमें उन आश्रयभूत पदार्थोंका संचय विग्रह करता है, इसने ही मुझे सुख दिया, इसने ही मुझे दु:ख दिया। इस अज्ञानीको यह विदित नहीं है कि सुख और दु:खका परिणाम मेरी ज्ञानकलासे प्रकट होता है। मैं जैसा सोचूं तैसी स्थिति सामने आती है। छोटी भी बात हो छोटी भी विपदा हो, पर ज्ञानकला कुछ महसूल कराकर बन रही हो तो वह पहाड़ जैसी विपदा लगती है। और कोई महान कष्ट भी हो और यह ज्ञानकला धैर्यको बनानेकी पद्धतिमें प्रकट होती हो तो वह न कुछ जैसी बात होती है।

उद्दण्डता और दण्ड—भैया! क्लेश है क्या यहाँ? किसीको भी यहां क्लेश नहीं है किन्तु उद्दण्डता जो कर रक्खी है कि हैं तो अत्यन्त भिन्न पदार्थ और

उनको अपना रहे हैं। तो इस उद्दण्डताका दण्ड तो मिलना ही चाहिए। उद्दण्ड मायने उत्कृष्ट दण्ड। उत्कृष्ट दण्ड तो पहिले ही किया है, अब थोड़ासा दण्ड मिल रहा है तो फिर उसे समतासे सहें ही। अपराध किया हमने, तो भोगने कौन आयेगा। अज्ञानी जीवको कुछ पता नहीं है। उसे तो सब कुछ अपना अपना नजर आता है।

ज्ञानीका बन्धफलमे विवेक—यों ही जब शुभ बंधका फल सामने होता है तो यह अज्ञानी प्राणी हर्षमग्न होता है। ओह! बड़ा पुण्य आड़े आरहा है इसके बहुत पुण्यका उदय है, किन्तु यह विदित नहीं है कि अज्ञानमे पुण्यका उदय आये तो उसे बुरी तरहसे गिरना पड़ता है। अज्ञानीका क्या पुण्य है? सिह यदि उपवास करले तो उसके उपवाससे क्या उपकार होता है? अज्ञानी जीव जब तक अपनेको यथार्थ अनुभव करके अज्ञानको नष्ट न करसके तब तक इसकी चेष्टाओसे यथार्थ लाभ क्या होगा? शुभ बन्धके फलमे हर्षविभोर होजाता है और अशुभ बन्धके फलमें विषादमग्न होजाता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष जानता है कि जैसे दिनके बाद रात और रातके बाद दिन आते हैं यो ही इस वैषयिक सुखके बाद दु.ख और दु.खके बाद सुख आते है। सुख दु.खको उत्पन्न करके नष्ट होता है और दुःख सुखको उत्पन्न करके नष्ट होता है। सुखको उत्पन्न करके नष्ट होनेवाले दुःखका क्या विषाद करना और दुःखको उत्पन्न करनेवाले सुखको पाकर क्या हर्ष मानना। ऐसा विवेक ज्ञानी पुरुषके जागृत रहता है।

ज्ञानीकी दृष्टिमे सुख दुःखकी समानता—ज्ञानी संतको यह भी विदित है कि सुख और दुःख दोनोकी विह्वलतारूप अवस्थाएँ है, कल्पनाको लिए हुए हैं, दोनोका स्वरूप एक है। शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके ध्यानके प्रेमी पुरुषोंको इन इन्द्रियो के विषयोके सुखमे क्या उपयोग फसेगा। वह तो वहाँसे हटना ही चाह रहा है। ज्ञानी पुरुषको सुख और दु.ख दोनो एक समान हैं। जैसे, जिस बेटीकी शादी होचुकी है, कई बार घर हो आयी है तो मायकेमे कोई काम चाहे बनरहा हो चाहे बिगड़ रहा हो, दोनो ही स्थितियोमे उसे वह ज्ञेयमात्र रहता है। भला हो जानेसे कहीं जायदाद तो लाद नहीं दी जाती है, जितना हिस्सा बैठता है उससे दूना तो शादीमे खर्च होगया। अब ऐसा भी तो नहीं है कि कुछ राज्य ही मिल जायगा। वहाँ साधारण हर्ष विषाद रहता है, पर जिस घर ब्याही है उस घरमे कोई नुकसान हो तो, और कुछ विशेष आर्थिक प्रगति हो तो उसमे राग द्वेष चलता है। एक मोटी बात है यह, यो ही जिन ज्ञानी संतोका अपनी वास्तविक निधिमे ही चित्त लगा है उसे इस संसारके इन वैषयिक सुख और दु खोंमे, आर्थिक समागम और वियोगमें हर्ष और विषाद नहीं होता। यह तो वहां भी ज्ञायक रहता है।

ज्ञानी और अज्ञानीकी रुचि—ज्ञानी पुरुष सम्वरके साधनमूत परिणामोंमें रुचिवान होता है जबकि अज्ञानी जीव सम्वरके साधनमूत ज्ञान और वैराग्यसे दूरसे ही डरता है। एक श्रोता सभामें देरसे आया तो पंडितजीने पूछा-सेठजी! तुम्हें देर क्यों होगयी? सेठजी बोले—पंडितजी! आज बड़े चक्करसे हम आगये। वह मोड़ा है ना, ८, ६ वर्षका, "' हाँ, हाँ, सो क्या? ' सो वह कहने लगा कि हम भी शास्त्रमें चलेंगे, उसे बहुत समझाया, आखिर उसे सनीमामें भेजा तब हम यहाँ आ पाये।"' तो सेठजी उस बच्चेको भी ले आते-क्या हर्ज था। "' पंडितजी तुम बहुत भोले हो। हम तो हैं सुननेकी सारी कला जानने वाले, कैसे सुना जाता है, किस कानसे सुना जाता है, किस कानसे निकाला जाता है, हम उस ६ वर्षके मुन्नेको यहाँ शास्त्र सुनने लायें और आपकी कोई बात उसके घर कर जाय तो कहो वह घरको भी छोड़दे, हम उससे भी हाथ धो बैठें। तो अज्ञानी जीवोंको सम्वरके साधक ज्ञान और वैराग्यकी बातें नहीं रुचा करती हैं किन्तु इस सम्यग्दृष्टिको उसमें ही रुचि है, सांसारिक सुख दु:खों में उसकी रुचि नहीं है। ऐसे परिणाम वाला दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा परम करुणामें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है।

भावात्मक सप्ततत्त्वका श्रद्धान—दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा सप्ततत्त्वके सम्बन्ध में चिन्तन कर रहा है, इस सप्ततत्त्वके श्रद्धानको आंतरिक रूपमें निरख रहा है। आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष, ये ५ तत्त्व अभी व्यवहारनयसे देखे जारहे थे, अब इन पंच तत्त्वोंको निश्चयनयसे देखा जारहा है। निश्चयनयमें विषय एक पदार्थ होता है। जैसे कि पहिले बताया था कि जीवमें कर्मोंका आना आस्रव है, तो इसमें दो पदार्थोंका नाम लिया गया है-जीव और पुद्गल कर्म। किन्तु निश्चयसे देखनेपर दो पदार्थोंका नाम नहीं आना चाहिए। अतः निश्चयदृष्टिसे अब एक ही इस जीवके यदि जीवके ५ तत्त्व दिखरहे हैं तो ज्ञानीकी अन्तर्वृत्ति समझनेके लिये आप भी केवल जीवको ही देखिये।

भावात्मक सप्ततत्त्वके विवरणमें जीव, अजीव और आस्रव तत्त्व—इस जीवमें मूल तो है स्वभाव, चैतन्यभाव और वर्तमान परिस्थिति है विभावकी। यह जो मूल स्वभाव है वह तो है जीव और जो विभाव है, विकार है वह जीव नहीं है, वह है अजीव। जिस दृष्टिमें रहकर ज्ञाता जानता है उस दृष्टिके मुताबिक उसका स्वरूप दिखता है। इस दृष्टिसे यह जो मनुष्य है यह जीव नहीं है। ये पशु पक्षी कीड़े मकोड़े जीव नहीं है, किन्तु इनमें बसने वाला जो अनादि अनन्त शाश्वत चैतन्यस्वरूप है वह जीव है। ये दृष्टिकी बातें हैं। किसी भी दृष्टिकी बातको सर्वथा कह देनेसे वह विपरीत हो जाता है। मैं चैतन्य स्वभावमात्र हूँ, इस स्वभावमें विभावका आजाना इसका नाम है

आश्रव। निरखते जाओ, उस जीव और अजीवको देखकर यह पंच तत्त्वकी व्यवस्था बनायी जारही है। स्वभावमें विभावका आना आश्रव है। स्वभावके मायने है शाश्वत चित्स्वभाव और विभावके मायने है रागद्वेष।

भावात्मक बन्धतत्त्व—स्वभावमे विभावका बँधना बंध है, उसका संस्कार बना रहे उसकी पकड़ बनी रहे वह बंध है। आना और पकड़ करना इन दोनों में अन्तर है। आश्रव तो केवल आनेका नाम है और बंध पकड़नेका, रोकनेका नाम है। जैसे किसीको क्रोध आता है और चला जाता है। यह मोटी बात कह रहे हैं। क्रोध यों नहीं होता कि आया और चला गया। क्रोध भी पकड़मे आता है तब गुस्साका रूप बनता है। मोटे रूपसे समझलो–एक पुरुषके क्रोध आता है और चला जाता है, और किसी मनुष्यके क्रोध पकड़मे रहता है। क्रोधको पकड़कर बैठता है। आज दाव नही लगा तो कल देखेंगे, संस्कार बना है, यो ही समझ जावो कि विभाव आयें तब तो आश्रव है और जीवमें विभावोंकी पकड़ होगयी, नीव जम गयी, बासना हुई यह बंध है। ये दोनों तत्त्व हेय हैं।

भावात्मक संवर निर्जरा व मोक्षतत्त्व—हेयभूत आश्रव और बन्धकी प्रतिक्रिया में दो तत्त्व हैं सम्वर और निर्जरा। जीवमें विभावोंका आना रुक जाना इसका नाम है सम्वर। और जीवस्वभावमें से विभावोंका झड़ना इसका नाम है निर्जरा। इसही उपायसे जब जीवसे ये रागादिक विकार सब दूर हो जाते है, शुद्ध ज्ञानमात्र यह आत्मतत्त्व रहता है तो वह हुआ इसका मोक्ष, ऐसी दृष्टि रखनेवाला दर्शनविशुद्ध सम्यग्दृष्टि जब विश्वके जीवोंपर नजर करता है और उनके दुःख देखता है व इनके दुःख, कष्ट दूर हों ऐसी जब उनकी परम करुणा जगती है तब तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है। पहिलेके सप्त-तत्त्वके श्रद्धानके विवरणसे यह विवरण कुछ कठिन लग रहा होगा। लेकिन नयोंके स्वरूप जाननेपर यह परिज्ञान सुगम होता है पहिले व्यवहारनयकी अपेक्षा बात कही थी। अब यह अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा बात है।

विशुद्ध निश्चयनयसे सप्ततत्त्वोंमें जीव और अजीवतत्त्व—अब जरा विशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा भी सुनिये। सम्भव है यह अत्यन्त अधिक कठिन लगे, लेकिन अपना उपयोग सावधान रखकर सुननेसे कुछ यह दुर्गम न होगा। अभी तो रागादिक विकारोंके आने, बँधने, रुकने व झड़नेकी अपेक्षा दी गयी थी, अब यह उच्च आंतरिकतासे निरखा जाने वाला आध्यात्मिक विवरण है। यह आत्मा ज्ञायक है, सर्व पदार्थोंको जाननेवाला है। सर्व पदार्थ जिसके जाननेमें आते हैं वह तो हुआ ज्ञायक और सर्व पदार्थ हुए ज्ञेय। इस ज्ञायकमे ये बाह्य पदार्थ ज्ञेय नहीं आते हैं, ये ज्ञेय पदार्थ ज्ञेयोंकी जगह रहते हैं और यह ज्ञायक

आत्मा, जाननेवाला यह आत्मा अपने प्रदेशोंमें रहता है। इसके साथ ही साथ यह भी जानें कि ज्ञायक आत्मा परमार्थसे निश्चयसे किसी बाह्य पदार्थको नहीं जानता है, किन्तु अपने ज्ञानके परिणमनको जानते हुए में जो बाह्यपदार्थ आश्रयभूत होते हैं, लोग उपचारसे उस बाह्य पदार्थका जानना कह देते हैं किन्तु वस्तुतः यह आत्मा किसी भी बाह्य पदार्थको जानता नहीं है परमार्थतः यह ज्ञायक निज ज्ञेयाकार परिणमनको जानता है। अतः यहां ज्ञायक हुआ जीव और ज्ञेयाकार हुआ अजीव।

दृष्टान्तपूर्वक परमार्थतः जाननविधिका विवरण—जैसे दर्पण सामने रखलो तो आपके पीठ पीछे जो भी लोग खड़े होंगे उन सबका प्रतिबिम्ब उस दर्पणमें आ जायगा आप देख तो दर्पणको रहे थे लेकिन पीठ पीछेकी सारी बातें बखान रहे थे। ये दो आदमी खड़े हैं एकने शिर हिलाया, अब इसने पैर हिलाया, जो जो कुछ इसकने पीठ पीछे रहनेवाले लोग करेंगे वे सब आप बताते जावेंगे। आप देख रहे हैं दर्पण, पीठ पीछेके लोगोंको नहीं देख रहे हैं। केवल दर्पणको देख कर आप पीछेवाली बातें बताते जा रहे हैं। यों ही हम आप सब आत्मा केवल अपने आपके प्रदेशोंमें अपने गुणोंके परिणमनका ही अनुभव करते हैं, किसी बाह्य पदार्थका अनुभव नहीं है। अपनेमें जो ज्ञान है उस ज्ञान गुणका जो ज्ञेयाकार परिणमन होता है सो अपने ही अन्तरमें होनेवाले ज्ञेयाकारको हम जानते हैं पर उस निज ज्ञेयाकारको जानते हुएकी स्थितिमें हम उन बाह्य पदार्थोंका बयान कर जाते हैं जो आश्रयभूत हुए हैं। यों थोड़ेमें समझ लीजिए कि हम किसी बाह्य ज्ञेयको नहीं जानते, किन्तु अपने आपमें जो झलक है, ज्ञेयाकार है, प्रतिभास है उसको ही जानते हैं।

अन्त: आस्रव बन्धका रूप—मोटे रूपमें यह भी समझ लीजिये कि जब हम बाह्यविषयक ज्ञान करते तो किसी आफतमें पड़ जाया करते हैं। न जानें हम किसी बाह्यपदार्थविषयक ज्ञानको, तो हम बड़ी शांति सन्तोषसे रहा करते है। इतनी बात समझ लेनेपर अब आइये प्रकृत बातमें। यहां ज्ञेयकी चर्चा कर रहे हैं अन्तर्ज्ञेयकी। बाह्यपदार्थ तो इस मुझ ज्ञायकमें आते ही नहीं हैं। क्या ये भीत, किवाड़, चौकी मुझमें घुस जाते? इन पदार्थोंका जैसा स्वरूप है, शकल है, आकार है उस प्रकारका जो इस आत्मामें एक प्रतिभास होता है यह तो वास्तवमें उस ज्ञेयाकारको ही जानता है इस बाह्य पदार्थको नहीं जानता है। अब विशुद्धनयसे देखिये-इस ज्ञानमें ज्ञेयके आनेका नाम आस्रव है और इस ज्ञानमें इस ज्ञेयके बँध जानेका नाम बंध है। होता है ना ऐसा कि जो इष्ट हो, जिसे हम जान रहे हैं उसको हम जानते रहनेकी ही कोशिश करते हैं यह हुआ बन्ध।

आन्तरिक चर्चा—भैया! यह बहुत आंतरिक ऊँची चर्चा है, जिसको स्पष्ट

समझमें न आये वह इस श्रद्धासे अपने उपयोगको सफल करे कि अहो जैन सिद्धान्तमें या शुद्धस्वरूपमे पहुँचे हुए अरहंतभगवंतोंका ऐसा वस्तुस्वरूपका उपदेश है जो वस्तुमें पाया जाता है जिसका समझना भी दुर्गम हो रहाहै। यह कोई इतिहासकी चर्चा नहीं है कि फलाना देव आया, फलाना भगवान बना, उसने यों किया, यह कोई इतिहासकी वात नही है, यह आपकी ही बात है, आपके अन्तरकी वात है, यहीकी वात है।

ज्ञानाकारकी अनुभूति—ज्ञानमें ज्ञेयका आना रुकजाय, यह संवर है। जब इस ज्ञायकमें ज्ञेय नहीं होता है तो यह ज्ञायक निज ज्ञानाकार परिणमता है। एक मोटी वात समझलो। जब कभी आप ऐसी हिम्मत वनाएँ कि सर्व पर पदार्थ अहित हैं, असार हैं, भिन्न हैं, मैं किसी भी पर पदार्थको न जानूँगा। सव हट जावो—किसी भी पदार्थको जाननेका मुझे प्रयोजन ही नहीं है, यदि वन जाय ऐसी स्थिति कि कोई भी पर पदार्थ आपके जाननेमे न आये तो उस समय आपका ज्ञान किस रूप रहेगा, बताया नही जा सकता, लेकिन फिरभी कुछ युक्तिसे बतावे किस रूप रहेगा ? उसका कोई नाम नही लिया जा सकता। जो निज ज्ञान है, सहज विकाश है, केवल उस ज्ञान प्रकाश रूप रहेगा, यहाँ भी कुछ ज्ञेयपना संभव है, किन्तु जहाँ किसी भी ज्ञेयको ज्ञानमे स्थान न दें ज्ञेयका सस्वर करदें तो ये ज्ञान निज ज्ञानाकार रूप रहता है। ऐसी स्थिति ऊँचे ज्ञानी संत साधुवोंके होती है, श्रेणीमे रहनेवाले मुनियोंके होती हैं, कभी श्रेणीके पहिले भी सम्यग्दृष्टियोंके क्षणमात्रको होती है।

आन्तरिक निर्जरा व मोक्ष—ज्ञायकमें ज्ञेयका जो संस्कार पड़ा वह झड़ जाय इसका नाम है निर्जरा और ज्ञायकमात्र ज्ञायकरूप रहे यह हुआ मोक्ष। ये अपने स्वरूपके पहिचानने के लिये ही पंचतत्त्व हैं। ऐसे भी प्रयोगरूपमें सप्त-तत्त्वमें प्रतीति रखनेवाला यह दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा परम करुणामे जब आता है तो इसके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। सम्यग्दर्शनकी निर्मलता वहाँ प्रकट होती है जहां इसके अन्तरमें निर्विकल्परूपसे प्रवेश होजाता है।

भक्तिमग्नता—पुराणोंमें कहते हैं कि रावण जब वालिमुनिको न मिटा सका और स्वयं जव खेदखिन्न हो गया तो क्षमा मांगता है—अपनी जान बचाता है और फिरभी पर्वतपर चढ़कर देखने जाता है तब तक वह प्रभु केवली होगए। उनके सन्मुख जब रावणको तीव्र भक्ति उत्पन्न हुई, वीतराग सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूपके प्रति अत्यन्त अनुराग जगा तो कहा गया है कि उस समय वह भक्तिमे ऐसा रस-विभोर होगया था कि कोई बाजा उनके पास न था तो हाथकी नस ही फूककर उन्होंने भक्तिमग्नताका अनुभव किया और तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया। वह था क्षयोपशम सम्यक्त्व। इस सम्यग्दर्शनमे भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो

जाता है। क्षयोपशम-सम्यक्त्वके समय तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हुआ, लेकिन पहिले नरक आयुका बंध कर लिया था। जब प्राणान्तका समय आया, क्षयोपशम-सम्यक्त्व छूट गया और नरकगतिमें पहुंचा। यदि पहिले अन्य आयु न बधी तो नियमसे वह स्वर्ग और ऊँचे वैमानिक वासियोंका देव ही होगा। देखो पहिले के अशुभ परिणामोंके कारण जो आयु बाँधली, उसका भोग करना ही पड़ा और अन्तर्मुहूर्तके लिए यह तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करनेवाला ही मिथ्यादृष्टि बन गया। क्षयोपशम सम्यक्त्व छूटा, नरकगतिमें पहुंचा, जब तक भी नारकी पर्याप्त नहीं बन जाता है, तब तक उसके सम्यक्त्व नहीं है और तीर्थंकर प्रकृति जो बंध चुकी वह वही ही है। हालाकि उसके अब तीर्थंकर प्रकृति बँध नहीं रही, किन्तु सत्ता तो है।

तीर्थंकरप्रकृतिबन्धमें सुगतिका नियोग—यह उक्त उदाहरण एक अपवादरूप है, किन्तु जिसके तीर्थंकर प्रकृति बँधती है वह प्राणांत करके ऊँचे वैमानिक में देव हुआ करता है, और देवसे च्यवन करके वह उत्तम मनुष्य होता है वहाँ पंच कल्याणक उत्सव होता है। जब ज्ञान कल्याणक हो जाता है, केवल ज्ञान हो जाता है तब तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होता है। धर्मकी प्रवृत्ति, तीर्थकी प्रवृत्ति, उच्च देशना ये सब समारोह होते हैं। कभी ऐसा भी हो जाता है कि उस ही मनुष्यभवमें पहिले साधारण मनुष्य ही था, बड़ा हो गया, अब किसी भी समय तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाय और उस ही भवमें उसका उदय आ जाय तो उस तीर्थंकरके गर्भ कल्याणक और जन्म कल्याणक न हो सके, किन्तु तप कल्याणक, ज्ञान कल्याणक, निर्वाण कल्याणक हो जाता है। यों केवल तीन ही कल्याणक समारोह हुए। ऐसे जीव भरत ऐरावतमें नहीं होते। विदेह क्षेत्रमें ही ऐसी स्थिति आती है। कोई पुरुष मुनि हो जाय तब तक भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध नहीं था। मुनि अवस्थामें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हुआ तो अब क्या है? तप कल्याणक तो मनाया नहीं जा सकता। दीक्षा तो पहिले ही ले चुके थे। अब उसके दो ही कल्याणक होंगे। ज्ञान कल्याणक और निर्वाण कल्याणक। ऐसे भी जीव बहुत कम होते हैं ये भी विदेह क्षेत्रमें संभव है। विदेहोंमें पंच कल्याणक समारोहवाले तीर्थंकर अपेक्षाकृत न्यूनकल्याणवालोंसे अधिक होते हैं।

परमार्थ स्वपरकरुणा—सप्त तत्त्वके श्रद्धानी दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा अपने आपके सिंचनमें कि यह निजका अंकुर बढ़ता ही जाय, दर्शनकी विशुद्धि बढ़े, चारित्रकी वृद्धि हो ऐसे इस अंकुरके सिंचनमें निज स्वभावकी उपासना करते हैं, यो तो अपनी करुणा करके और बाह्ममें जीवोंकी व्यर्थमें ऐसी दुर्दशा निरख कर उनके प्रति भावना करते हैं कि ये जीव अपने इस सुगम स्वाधीन निज

स्वरूपको देखलें और ममताके, अहंकारके सर्व संकटोंसे दूर हो जायें ऐसी उनकी परम करुणा होती है, इस दर्शनविशुद्धिके प्रतापसे उनके तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

भेदविज्ञानमें प्रायोजनिक बोध—देव, शास्त्र, गुरुकी उपासनासे और ७ तत्त्वोंके यथार्थ अवगमसे जीवको स्वपरभेदविज्ञान प्रकट होता है। मैं क्या हूँ इसका निर्णय जब तक आत्मा और अनात्मा सबका प्रायोजनिक बोध न हो, नहीं हो सकता है। मैं क्या हूँ इस सम्बन्धमें पूज्यपाद अमृतचन्द्रजी सूरिने कहा है—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥

यह आत्यस्वभाव कैसा है इस बातको प्रकट करनेमें समर्थ शुद्धनय है, मैं आत्मा स्वतः स्वयं शाश्वत कैसा हूँ इस बातको निरखना है। किसी परवस्तु की अपेक्षा अथवा सम्बन्ध लगाकर किसीको सही नहीं जान सकते है, इस कारण आत्मस्वभावको जाननेमे समर्थ शुद्धनय ही है।

आत्मतत्त्वकी परसे विविक्तता—यह मैं आत्मतत्त्व समस्त परभावोंसे न्यारा हूँ। मैं मैं हूँ, मैं अन्य कुछ नहीं हूँ इतनी बात तो है ही यह तो सर्व साधारण बात है। कोई भी पदार्थ तब है जब वह अन्यरूप नहीं है। चौकी चौकी कब रह सकती है जब यह घड़ी चस्मा भीत किवाड़ आदि रूप न हो। सभी लोग जानते हैं। मैं मैं कब रह सकता हूँ जबकि अन्य रूप न होऊँ। यह तो प्रत्येक वस्तुकी एक साधारणसी बात है। मैं समस्त परपदार्थोंसे न्यारा हूँ, इतना जाननेपर भी अभी मै क्या हूँ इसका परिज्ञान नही हो सका है। इसके आगे और चलिए।

आत्मतत्त्वकी परभावसे विविक्तता—जितने भी परभाव है अर्थात् परकर्मोदयका निमित्त पाकर उत्पन्न होनेवाले जो मुझमे परिणाम हैं, उन परिणामोंसे भी मैं न्यारा हूँ अर्थात् रागद्वेष मोहादिक विकार भावोंरूप मैं नहीं हूँ। यहाँ तक दो बातें जाननेमें आयीं। मै पररूप नहीं हूँ और रागादिक विकाररूप नहीं हूँ पर इतने पर भी मैं स्वयं परमार्थ क्या हूँ इसका ग्रहण नहीं हो पाया है। इसके ग्रहणके लिये आइये, आगे बढ़िये।

आत्मतत्त्वकी आपूर्णता—क्या मैं इस छुटपुट ज्ञानरूप भी हूँ जो ज्ञान हमारे रातदिन चला करता है, कभी कुछ जान लिया कभी कुछ जान लिया ऐसा जो खण्ड-खण्ड ज्ञान चलता है क्या मैं उन खण्ड ज्ञानोंरूप हूँ फिर अध्यात्मकी ओर तका तो विदित हुआ कि मैं खण्डज्ञानरूप भी नहीं हूं, किन्तु मैं आपूर्ण हूं, मै अधूरा नहीं हूं, शुद्ध परिपूर्ण हूं, आपूर्ण हूं। यहां तक तीन बातें आयीं।

मैं परसे जुदा हूँ, परभावोंसे जुदा हूँ, सबसे पृथक् हूँ, इतनेपर भी दृष्टि एक जगह अटकी रह सकती है। जो मेरा केवल ज्ञानरूप विकाश होना है वह केवल ज्ञान परिणमन तो परसे भिन्न है, परभावोंसे भिन्न है और अधूरा भी नहीं है। तब क्या मैं केवलज्ञानादि स्वभावपर्यायमात्र हूँ। यहां कुछ बात अटक जाती है।

आत्मतत्त्वकी शाश्वतता—भैया! सहसा सुननेमें तो ऐसा लगता है कि हाँ मैं केवलज्ञानस्वरूप हूँ, किन्तु इस केवल ज्ञानस्वरूपका तो अर्थ अनन्त ज्ञानसे है। तो वह अनन्त ज्ञान मेरे सत्त्वके सम्बन्धसे तो नहीं है, अनादिसे तो नहीं है यह तो किसी दिन प्रकट होता है तो जब तक प्रकट नहीं हुआ था केवल ज्ञान, तब तक क्या मैं न था, क्योंकि अब तो केवल ज्ञानमात्र अपनेको माना ? जब कुछ अध्यात्मकी ओर और चलते हैं तो यह विदित होता है कि मैं केवल ज्ञानादिक स्वरूप शुद्ध विकाशमात्र नहीं हूँ, ये सब भी पर्यायें हैं।' इतनी बात अवश्य है कि वे मेरे स्वभावके अनुकूल पर्यायें है, किन्तु मैं यदि उन स्वभाव पर्यायमात्र होता तो उससे पहिले मेरा अस्तित्व ही न समझना चाहिए। इस कारण मैं वह हूँ जो आदि अन्तसे रहित हूँ। यहां तक चार बातें आयीं। मैं परपदार्थोंसे भी भिन्न हूँ, रागादिक विकारोंसे न्यारा हूँ और आपूर्ण हूँ, तथा आदि अन्तकर रहित हूँ। हाँ लो अब आया समझमें ठीक कह रहे हो तुम। मैं एक चैतन्य स्वभावमात्र हूँ, इन चार बातोंके समझने पर कि मैं परसे जुदा हूँ, विभावसे जुदा हूँ, आपूर्ण हूँ व आदि अंतकर रहित हूँ, ओह अब ध्यानमें आया, मैं सहज ज्ञानरूप हूँ, सहज आनन्दरूप हूँ, सहज शक्तिरूप हूँ, सहज श्रद्धारूप हूँ अब ध्यानमें जचा।

आत्मतत्त्वका एकत्व—जरा अध्यात्मकी ओर और चलकर निरखें तो मैं छितरे-बितरे रूप नहीं हूँ। यहाँ तक यह अध्यात्मका अन्वेषक एक चित्स्वभाव तक पहुंचा लेकिन अब भी कुछ बात अटक रही है, नहीं तो आनन्दमग्नता न हो जाती। इतना विकल्प और इतना भ्रमण क्यों चल रहा है ? हाँ ये भेदकी बातें भटकाने ही लायक हैं। अपनेको नाना रूप माना तब भी वहाँ विकल्प है और अपनेको एक स्वरूप माना तब भी वहाँ विकल्प है।

आत्मतत्त्वकी अभेदरूपता—मैं तो एक हूँ. पकडसे रहित हूँ। क्या हूँ कह नहीं सकता। जैसे समुद्रके उखड़े हुए रत्नोंसे पानी अलग हो जानेपर समुद्रमें प्रकट हुए रत्नोंके ढेरको अथवा रेतके कणोंको निकले हुयेको हम देख रहे हैं, किन्तु वे कितने हैं उसका बखान हम नहीं कर सकते। यहाँ यह अध्यात्मिक पुरुष उस अपने आपके चित्स्वरूपको जान तो रहा है, किन्तु वह बता नहीं सकता। एक की कल्पना भी हुई ऐसी बाधा, कि एक कहनेपर वह प्रेरणा अटक

जाती है और स्वानुभूतिकी स्थिति नहीं हो पाती है। यह तो अनुभव करके भी देखलो। यह ज्ञान प्रकाश अबद्ध होकर असीम होकर चाहे दूर तक न जाय, रहे आत्मा ही तक अथवा दूर तक भी जाय किन्तु अबद्ध और असीमकी पद्धतिसे यह प्रकाश चले तो स्वानुभव होता है। हम चाहे एक आत्माको ही जाने, किन्तु आत्मामे भी बाँधकर जाने तो स्वानुभूति नहीं हो सकती है। यह मै संकल्प विकल्पजालोंसे भी रहित स्वरूपास्तित्वमात्र हूँ। यह है वेदांत अर्थात् वेद मायने ज्ञानविकल्प, विकल्पोका जहाँ अन्त हो जाय, ऐसा यह है एक निज स्वरूप।

लक्ष्य और विशुद्धि—भैया ! हो क्या गया। था तो यह आत्मतत्त्व संकल्प विकल्प जालसे परे, किन्तु उसको यों मानने लगे कि यह आत्मा एक है और सर्वव्यापक है। अरे निर्विकल्पकी स्थितिके मर्मको यों बाँध देना यह तो उसका परिचायक नही है। जहाँ विकल्प ही न हो ऐसा यह शुद्धतत्त्व मैं हूँ। ऐसा यह मैं अब विकल्पोमे आकर समझाऊँ अथवा अपने आपको निरखूं तो यह कहना होगा कि यह मैं समस्त अनात्मतत्त्वोसे न्यारा हूँ। यो निजमे और समस्त परमे भेदविज्ञान जिसने किया है ऐसा दर्शनविशुद्ध ज्ञानी पुरुष तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करता है जब स्वपरकरुणा विशेष जागृत होती है। यह ज्ञायक स्वरूप शुद्धतत्त्व जिसकी दृष्टिमे सुलभ उपस्थित है वह पुरुष जगतके जीवोपर जब दृष्टि डालता है कि अहो ये कष्ट भोग रहे है, परिश्रम कर रहे है, हैं तो ये सब ज्ञानानन्द स्वरूप, मगर एक अपने आपके इस मर्मका बोध न होनेसे परकी आशा रखकर दीन भिखारी होकर अपने आपको विह्वल बनाये जा रहे हैं, व्यर्थंके भ्रमवश परेशान हैं, परेशानीको तजकर क्यो नहीं ये सुगम स्वाधीन सहज स्वरूपको देख लेते हैं, ज्ञानीको ऐसी अपार करुणा होती है तब।

पारमार्थिक करुणा—ज्ञानीके यह संकल्प नहीं होता है कि मै तीर्थंकर बनूं और जगतके प्राणियोंका उद्धार करूँ। यह तो अज्ञानभाव है। कोई भी ज्ञानी पुरुष कर्तृत्वका भाव नहीं ला सकता मैं इस जगतके जीवोंको संसारके दुखोंसे छुटाकर मोक्षमे पहुँचा दूँ ऐसी बात ज्ञानी पुरुपके आशयमें नहीं है। यह प्राणी जब भी मुक्त होगा तो स्वयंकी दृष्टि पाकर स्वयंके रत्नत्रय भावके द्वारा मुक्त होगा। उसे तो अपार करुणा आरही है। कोई त्यागी पुरुप, साधु पुरुष कहीं जारहा हो और रास्तेमें कोई भूखा आदमी मिलजाय. तो उसको भी करुणा तो जागृत होती है पर वह कर क्या सकता है ? पैसा पास नहीं रखता पर करुणा तो जैसे गृहस्थको होती है वैसे ही उन सन्न्यासियोंको भी होती रहती है, किन्तु इसको मैं रोटी बनाकर खिला दूँ ऐसा परिणाम तो नहीं आता, पर वास्तविक हितपूर्ण करुणा बराबर हो रही है। ऐसे ही समझिएगा कि विश्वके समस्त प्राणियोपर जो कि अपने अज्ञान भावसे बाह्यतत्त्वोंमे लगे हुए है व्यर्थ संसार

भ्रमण कर रहे हैं उनको जानकर इन ज्ञानियोंके करुणा उत्पन्न हो रही है, पर मैं इनका उद्धार कर दूँ, ऐसा वह कर्तृत्वका संकल्प यों नहीं करता कि करे भी कोई संकल्प तो क्या उद्धार कर देगा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई परिणमन कर सकेगा क्या ? कभी नहीं।

विशुद्ध परिणामका प्रताप—साधु संतोंके सहवाससे स्वयमेव ही लोगोंका उपकार होता है, पर साधु संत किन्हींका कुछ किया नहीं करते हैं। यह दर्शन-विशुद्ध अन्तरात्मा विश्वके प्राणियोंपर करुणाभाव कर रहा है इस ही करुणाभाव की विशुद्धिसे वहाँ तीर्थंङ्कर प्रकृतिका बंध होता है। स्वपर भेदविज्ञान जिसके जागृत है और स्वका अभेदज्ञान जिसको अनुभूत हुआ है ऐसा आत्मश्रद्धानी संत पुरुष चाहे चतुर्थ गुणस्थानमें हो, पंचम गुणस्थानमें हो, अथवा मुनि अवस्थामें हो वह तीर्थंङ्कर प्रकृतिका बंध करता है। होती है वहाँ यद्यपि येही सोलह कारण भावनायें, पर मैं सोलह कारण व्रत करूँ, सोलह कारण भावना भाऊँ और मैं तीर्थंङ्कर हो जाऊँ ऐसा मांगनेसे तीर्थंङ्कर प्रकृतिका बंध नहीं मिलता है। कोई देनेवाला दूसरा नहीं है कि भगवानको वहका लो, अच्छी सामग्री थोड़ी देकर, सोलह कारणकी बात कहकर मुझे वह तीर्थंकर बना दे ऐसा नहीं होता है और न उनसे भिक्षा मांगनेसे तीर्थंङ्कर पद मिलता है।

निश्छल भगवद्भक्ति—धनंजय सेठ बड़े जिनेन्द्रभक्त थे। एकबार वे पूजन कर रहे थे उस ही समय उनके लड़केको सर्पने डस लिया। सेठानी दौड़ती हुई आयी और कहा—सेठजी लड़केको सांपने डस लिया। किन्तु, वह अपनी भक्ति पूजामें ही लीन था। दो चार बार स्त्रीने उनसे कहा, पर उन्होंने न सुना। अंतमें गुस्सेमें होकर सेठानी उस बच्चेको मंदिरमें छोड़गयी। लो तुम जानो मरे चाहे जिये। इतने पर भी धनंजय सेठने पूजा भक्तिमें कोई भंग नहीं किया और उसी समय आशुकवि तो थे ही, संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान, सो विषापहारस्तोत्र रच लिया। धनंजय सेठने एक द्विसंधानकाव्य लिखा है जिसमें प्रत्येक श्लोकमें रामका भी वर्णन है और कृष्णका भी वर्णन है। पद्मपुराण भी पाण्डवपुराण भी बना है। श्लोक एक है और अर्थ दो-दो निकलते हैं। तो वे धनंजय सेठ उस समय अपनी भक्तिमें लीन थे। लेकिन भगवानके गुणस्मरणके प्रसादसे उस बच्चेका सर्पका विष उतर गया। धनंजय सेठ उसी स्तोत्रमें एक जगह कहते हैं कि किसी रोगको दूर करनेके लिए लोग तंत्र मंत्र खोजते हैं औषधियां किया करते हैं, पर हे नाथ ये सारीकी सारी चीजें केवल तुम ही तो हो। व्यर्थ ही लोग आपको भूलकर बड़े-बड़े तंत्र मंत्रोंमें लगा फिरते हैं। भक्तिके प्रसादसे वह बालक वहाँ पर निर्विष होगया।

प्रभुभक्तकी निष्कांक्षता—भैया ! इस प्रसंगमें इस बातकी ओर ध्यान दिलाना

है कि जब उनकी भक्ति पूर्ण हुई तो भक्तिके अन्तमें वे कहते हैं—

> इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
> छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्किं छायया याचितयात्मलाभः ॥

हे नाथ ! स्तुति करके मैं आपसे दीनताका भाव करके कोई वर नहीं मांग रहा हूँ, कोई यह न समझे, अथवा अलंकारमें यों कहो कि हे भगवान यह न जानना कि स्तुति करके मुझसे कुछ माँगेगा। मैं आपकी स्तुति करके दीनतासे आपसे कुछ न माँगूंगा। यदि आपसे मैं कुछ माँगूंगा तो आप दे ही क्या सकते हो, आप तो अपने ज्ञानानन्दरसमें लीन हो। तो हम आपसे कुछ माँग कर ही क्या करें। अगर जरूरत होगी, भूख लगी होगी तो किसी धनीसे कुछ कह दूँगा तो वहाँ आजीवका भी मिल जायगी, पर हे नाथ ! आप तो न कुछ देते हो न लेते हो। आप तो ज्ञानानन्द रसमें भरे हो, हम क्या आपसे माँगें। ""अरे ! तो फिर स्तुति क्यों करते हो ? "प्रभो ! यों स्तुति करने आया हूँ कि मैं जानता हूँ कि तुम अकिञ्चन हो, तुम्हारे पास शरीर तक भी नहीं है, तुम्हारे पास कुटुम्ब नहीं, परिवार नहीं, पर हे नाथ आपकी उपासनासे जो कुछ मिल सकता है वह किसी समृद्धशालीकी उपासनासे नहीं मिल सकता है।

गंभीर अकिञ्चनसे सद्भिलाभ—अरे-अरे अभी कुछ कह रहे थे, अब कुछ कहने जा रहे हो। हाँ हाँ सुनो तो सही पर्वतोंको देखा है सबने, उससे तो पानी की एक बूँद भी नहीं रहती है किन्तु नदियाँ उस पर्वतसे ही निकलती हैं। पर्वत अकिञ्चन है, उसमें जल नहीं है, सूखा हुआ है, तप रहा है। किन्तु नदियां पर्वतो से ही निकलती है और समुद्रको देखा है ना, पानीसे लबालब भरा रहता है, पर समुद्रसे एक नाला भी निकलते हुए किसीने न देखा होगा। वह समुद्र तो अब भी भूखा है-वह कहता है कि हजारों नदियाँ और आजायें तो भी हमारा पेट न भरेगा। अकिञ्चन पहाड़में से नदियां निकलती हैं, जल मिलता है, पर समृद्धशाली समुद्रमें कुछ भी जल नहीं निकलता। और निकल भी जाय जल या कोई बांध वगैरह बिगड़जाय तो आफत आजायगी। यों ही हे प्रभो ! आप अकिञ्चन हो, फिरभी आपकी उपासनामें जो कुछ मिल सकता है वह किसी समृद्धिशाली से नहीं मिल सकता है। यही कारण है कि उस शुद्ध अकिञ्चन ज्ञानमात्र भावकी उपासनामें यहां ऐसी पवित्रता बढ़ती है कि पापकर्म स्वयं गिर जाते हैं और पुण्यरस कई गुणित होकर सामने आते हैं, अनंत आत्म ऋद्धि सिद्धि उत्पन्न हो जाती है।

स्तुतिमें प्रार्थनाकी व्यर्थता—हे नाथ ! मैं आपसे कुछ मांगता नहीं हूँ। आप तो अयाचक हो। और एक बात और भी है कि कोई छायादार वृक्षके नीचे बैठकर, हाथ जोड़कर सिर झुकाकर वृक्षसे कहे कि मुझे छाया दो तो उसे

विवेकी कहेंगे या पागल कहेंगे ? उसे तो आप पागल ही कहेंगे। अरे छायावाले पेड़के नीचे जो बैठा है वह छायामें ही तो बैठा है, और वृक्षसे प्रार्थना करे कि मुझे छाया दो, यों ही आपकी स्तुति भक्ति छायामे बैठे हों और आपसे हाथ जोड़कर माँगे कि हे नाथ मुझे सुख दो तो यह तो पागलों जैसी बात है । अरे प्रभुकी भक्ति, गुणस्मृति, कीर्तिकी छायामें बैठा हुआ पुरुष स्वयं समृद्ध है। माँगनेसे क्या लाभ ? छाया माँगनेकी क्या आवश्यकता छायावाले पेड़के नीचे बैठे हुए मनुष्यको।

विविक्त स्वरूपकी दृष्टिमें पारमार्थिक करुणा—इसीप्रकार अभेद भावसे और शुद्ध भावसे प्रभुकी स्मृतिमें जो रत है उसको किसी परपदार्थके माँगनेकी क्या आवश्यकता है। यह मैं आत्मा तो सबसे शून्य हूँ, इसका जब अनुभव होता है तब संसारके समस्त बन्धन टूट जाते हैं और जब ऐसे ही जगतके प्राणियोंपर दृष्टि देते हैं तो अपार उसकी करुणा उत्पन्न होती है उस समय मानो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है।

सम्यक्त्वका प्रताप—तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके कारणोंमे प्रमुख कारण दर्शन-विशुद्धि भावना है। सम्यग्दर्शन विशुद्ध हो और समस्त प्राणियोंके हितका प्रेमी हो ऐसी विशुद्धि होनेपर दर्शनविशुद्धि भावना होती है। सम्यग्दर्शन सर्व धर्मोका मूल है। सम्यक्त्व न हो तो श्रावक व्रत भी नहीं पल सकता और मुनि व्रत भी नहीं पल सकता। करणानुयोगकी दृष्टिसे जब तक परिणामोंमें स्वच्छता न जगे तब तक उसमे कोई व्रत नहीं होता । सम्यग्दर्शनके विना जितना ज्ञान है वह सब अज्ञान है। जितने तप हैं वे सब कुतप हैं, जितने चारित्र हैं वे सब कुचारित्र हैं। अहो इस सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विना इस जीवने अनन्तानन्त काल इस संसार भ्रमणमें खो दिया।

सम्यक्त्वनिधि—भैया ! आज जो कुछ हम आपको प्राप्त है उसमें विश्वास न करें, उसमे श्रद्धा मत लाओ। ये सब अनाप सनाप हैं। चूँकि ये सब पदार्थ हैं, जायें कहाँ ? कुछ निमित्त कर्मोदयका है, ये मिल गये, लेकिन इनमे सार कुछ नहीं है, प्रत्युत इनकी दृष्टिमें जो मलिनता बनती है वह पतनका कारण होती है। इस वैभवको मूल्यवान न समझो। एक सम्यग्दर्शन ही वास्तविक निधि है जिसके होनेपर संसारके समस्त सकट दूर हो जाते हैं । जिस जीवके सम्यक्त्व होता है उसको भय नहीं रहता है स्वरूपमें, अंतरंगमें।

सम्यग्दृष्टिके इहलोकभयका अभाव—सम्यक्त्वके बिना यह प्राणी इस लोकके भयसे त्रस्त हो रहा है । क्या होगा ? इस जीवनमें हमारा गुजारा अच्छी तरह होगा अथवा नहीं। कैसे सरकारके कानून बनें और उनमें हमारी सम्पत्ति रहे न रहे–कैसे गुजारा हो ऐसा भय अज्ञानीके रहता है। ज्ञानी पुरुष

इतना साहसवान है कि उसे इस जीवनका भी कोई भय नहीं है । वह जानता है कि मेरा लोक, मेरी दुनिया यह ही है जितना कि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, इससे अतिरिक्त मेरा यह लोक भी नहीं है । क्या होगा ? जो सत् है वह कभी मिटता नहीं और इस मुझ सत्मे किसी अन्य पदार्थका प्रवेश नहीं । मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानको ही भोगता हूँ, ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञान ही मेरी दुनियां है । बाहर मेरी कहाँ दुनियां है । मैं जानता हूँ–इस ही मे मेरा सर्व लोक है ।

अन्तर्दृष्टिके अनुसार बाह्य दर्शन—दृष्टिके अनुसार ही बाहरमें कुछ दिखा करता है । जिस पुरुषका चित्त शोकमे व्यग्र है उस पुरुषको शादी विवाह बरातके बीचमे भी बजते हुए बाजे शोकमयी सुन पड़ेंगे । अरे ये बाजे जबरदस्ती बज रहे हैं, ये बिल्कुल व्यर्थ बज रहे हैं, ऐसा उसे व्यर्थसा प्रतीत होता है, क्योंकि वह स्वयं दुखमे है, और कोई सुखमें है तो किसी दुःखीको देखकर वह कहेगा कि वह दुःखमें नहीं है । यह तो दुःखका बहाना कर रहा है । दुःख तो इसे कुछ है ही नहीं । जैसी खुदकी प्रवृत्ति होती है उसके अनुसार ही तो बाहर दिखता है । यह बाहरी दुनिया है, उसके भीतरी दुनियांके संस्कार लगे हुए हैं । जैसा जिसका ज्ञान होगा उसे वैसा ही सब कुछ बाह्यमें दिखेगा ।

अन्तर्दृष्टिके अनुसार बाह्यदर्शनका एक दृष्टान्त—एक बादशाहकी हजामत बनाने एक नाई आया, तो नाई लोग हजामतमे बातें बहुत करते है । वे चुपके रह ही नहीं सकते है, सो बादशाहसे गप्पें करने लगा । बादशाहने पूछा कि यह तो बताओ कि हमारी प्रजामें कैसा सुख या दुःख है ? नाई कहता है महाराज प्रजा बहुत सुखी है, घी दूधकी नदियां बह रही हैं, फिर धीरेसे पूछा कि तुम्हारे घर कितनी गाय भैंसें हैं ? बोला–महाराज दस-पांच गायें हैं, दस-पांच भैंसें हैं । बादशाह जान गया कि यह सुखमे है इसलिए इसे सारी प्रजा सुखी मालूम होती है । नाई तो चला गया । अब बादशाह मन्त्रीसे कहता है कि कोई बहाना करके इस नाईका धन जप्त करलो और इसकी सभी गाय भैंसें छिनालो । तो बहाना तो कितने ही हो जाते हैं । कोई आरोप लगाकर उसका धन जप्त कर लिया और गाय भैंसें छिना लीं । कुछ दिन बाद फिर नाई आया बादशाहने पूछा कि नाई साहब यह तो बतावो कि हमारी प्रजा सुखी है अथवा दुःखी है ? तो नाई कहता है—महाराज आपकी प्रजामे हाहाकार मच रहा है, प्रजा बड़ी दुःखी है । घी दूधके तो दर्शन भी नहीं होते । तो जैसे स्वयंका चित्त है वैसा ही बाहरमें दिखता है ।

ज्ञानीका साहस—मेरी दुनियां मेरेसे बाहर कहाँ है । आपकी दुनिया आपके भीतरके विचारोसे बाहर कहाँ है । मेरी दुनिया है मेरा ज्ञान । मेरा ज्ञान सदा मेरे निकट है, इसे कोई चुरा नहीं सकता, लूट नहीं सकता छिपा नहीं सकता ।

तब फिर मुझे भय क्या है ? न रहेगा धन तो क्या हुआ, वे सब परपदार्थ हैं न रहे परिजन तो क्या हो गया। हम अकेले ही तो थे। अकेले भी रह जायें कदाचित् तो क्या हुआ, हम हैं, अपने स्वरूपसे हैं। बड़ी हिम्मत है इस ज्ञानी पुरुषमें जिससे कि वह इस जीवनमें भी व्यग्र नहीं है। यह बात केवल सुननेकी नहीं है, किन्तु अपने आपमें यह बल लाना होगा, अन्यथा बुरी मौत मरेंगे जियेंगे, कोई लाभ न होगा। मेरा मात्र मैं ही हूँ इस मर्मके ज्ञानी पुरुषको इस लोकमें कोई भी भय नहीं है।

ज्ञानीके परलोकभयका अभाव—बहुतसे पुरुष परलोककी बातसे भयभीत रहते हैं। बल्कि जितना यह धर्म प्रवर्तन चल रहा है, प्रायः करके परलोकके भयके आधारपर चल रहा है। मेरा परलोक न बिगड़ जाय इसलिए व्रत करें, तप करें भक्ति करें, मेरा परलोक सुधर जाय, मैं अच्छी गतिमें जन्म लूँ, कहीं परलोक बिगड़ गया तो क्या हालत होगी, यह अज्ञानीको एक भय बना रहता है। ज्ञानी पुरुषके परलोकका भय नहीं रहता है, क्योंकि वह जानता है कि परलोक कहाँ है। मेरा मेरे ही पास परलोक है। क्या होगा परलोक ? मैं क्या नया सब बन जाऊँगा ? यही तो रहेगा सब। यह ज्ञान रहेगा, ये गुण रहेंगे, यह मैं रहूँगा। वहाँ भी कुछ दूसरा नहीं है। यह ही ज्ञान मेरा परलोक है। परलोकका भय इस ज्ञानी पुरुषके नहीं होता है। जो पुरुष तीर्थंङ्कर प्रकृतिके बंधका पात्र है उसकी यह कथा है कि वह कितना साहसवान होता है। हम थोड़ीसी श्रम सामग्रीमें या तफरीमें तीर्थङ्कर प्रकृतिको बाँधलें ऐसा भोलापन नहीं है कर्म प्रकृतिमें। यह तो यथार्थ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, जिस परिणामके करनेपर तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध है उसी परिणामसे तो बँधेगा। यह ज्ञानी कितना साहस बनाये है।

ज्ञानीके वेदनाभयका अभाव—इस ज्ञानी महात्माको वेदनाका भी भय नहीं होता है। वेदना क्या, वेदनाका अर्थ क्या ? लोग कहेंगे वेदना मायने दर्द, वेदना मायने पीड़ा, किन्तु वेदनाका अर्थ दर्द पीड़ा कष्ट यह है ही नहीं। वेदना विद् धातुसे बनी है जिसका अर्थ जानना है। वेदना अर्थात् जानना, यह वेदन शब्दसे ही वेदना बना हुआ है। वेदना क्या है ? वेदना यही है जो यह ज्ञानी पुरुष जान रहा है इस निश्चल आत्मस्वरूपको यह उसकी वेदना है। कदाचित् शरीरमें कोई विकृति आजाय और उससे कष्ट उपस्थित हो, वह वहाँ भी केवल वेदता रहता है। वहाँ भी वेदना बनी रहती है, पीड़ा नहीं किन्तु ज्ञान। यह भी एक बात है। यह आत्मा कर्मबद्ध है, फसा है शरीरसे, इस प्रकारका कष्ट है, यह सब भी ज्ञानमें रहता है। ज्ञानी पुरुष ज्ञाता रहा करता है। कष्ट हो तो कष्ट का भी ज्ञाता है। जबकि अज्ञानी यह समझता है कष्टमें कि मैं बरबाद हो रहा हूँ, मैं बरबाद हो जाऊँगा। बरबादीका भय इस ज्ञानीको नहीं है। जो हो सो हो,

बरबाद क्या हो जायगा। सत् कभी विनष्ट नहीं होता है।

ज्ञानी और अज्ञानीका वेदन—ज्ञानीके तो इसकी वेदना रहती है जो निश्चल यह आत्मस्वरूप अनुभवमे आया करता है। यह मैं नित्य अनाकुल हूँ, अभेदरूप हूँ, प्रत्येक पदार्थ अभेदरूप है। उसके समझनेके लिए भेद डाला जाता है पर जो सत् है वह सत् ही है। एक है, अभेद है, अहा देखो तो अपना आत्मस्वरूप, कैसा ज्ञानमय आनन्दघन अभेदरूप सबसे न्यारा प्रभु स्वरूप है, किन्तु इस आत्मस्वरूपका आदर न होनेसे यह मुग्ध प्राणी मायामय पुरुषोसे, मायामय कुटुम्बियोसे आसक्त होरहा है जो अत्यन्त भिन्न है; जिनसे कुछ लेनदेन नहीं है। प्रत्येक पदार्थका स्वरूप चतुष्टय न्यारा-न्यारा है, लेकिन इस मोह मिथ्यात्वका ऐसा नशा चढ़ रहा है कि इन मायामयी पदार्थोंमे ऐसी श्रद्धा है कि ये मेरे हैं। इन दो चार जीवोंके सिवाय बाकी जगतके अन्य जीव इसकी निगाहमें कुछ नहीं हैं। वे दो जीव ही सर्व कुछ दिख रहे हैं। ऐसे मिथ्यात्वका नशा इन जीवोंको बरबाद कर रहा है। कोई बाह्य पदार्थोंकी परिणति इस मुझको बरबाद नहीं कर सकती। ज्ञानी पुरुषोंको रंच भी वेदनाका भय नहीं रहता है।

सम्यग्दृष्टिके अगुप्तिभयका अभाव—यह अज्ञानी पुरुष अपनी कमजोरीसे अपने साधनोकी कमी देखकर, घर अच्छा नही, किवाड़ मजबूत नही है, गाँव भी सुरक्षित नहीं है, अनेक बातोंको देखकर भयशील बना रहता है। हाय मेरी रक्षाका स्थान दृढ़ नही है, न मेरे किला है जिससे कि शत्रु रुक जाये। न मेरे पास कोई ऐसा आवरण है कि जिससे दुष्टजन अथवा विरोधीजन मेरे पर आक्रमण न कर सकें, ऐसा भी भय अज्ञानी पुरुषके बना रहता है, किन्तु ज्ञानी जानता है कि मेरा स्वरूप ही दृढ़ दुर्ग है। जिसका भेदन अणुमात्र भी कोई पदार्थ नहीं कर सकता। वस्तुका स्वरूप अमिट है, प्राकृतिक अपने आपकी सत्ता रूपी दृढ़ दुर्गमे पड़ा हुआ है। अनादिसे ही ऐसी व्यवस्था है, किसी दिनसे नही है। मैं भी वस्तु हूँ। जो वस्तु होता है उसमे ६ साधारण गुण अवश्य होते है, उन गुणोंसे ही यह बात विदित होती है कि प्रत्येक पदार्थ अगम्य है। दूसरा पदार्थ उसमे प्रवेश नही कर सकता है।

पदार्थकी षड्गुणात्मकताके परिज्ञानमें निर्भयता—मैं हूँ, अपने स्वरूपसे हूँ, परके स्वरूपसे नही हूँ, मैं निरन्तर परिणमता रहता हूँ, पर अपनेमे ही परिणमता हूँ किसी अन्य पदार्थमें नहीं परिणमता। कोई अन्य पदार्थ मुझमें नही परिणमता। वे अपनेमे ही परिणमते है। मैं प्रदेशवान हूँ, ज्ञानमे भी आरहा हूँ, ऐसा यह मैं वास्तविक परमार्थ सत् चैतन्यस्वरूप स्वयं ही स्वरक्षित हूँ, गुप्त हूँ, मुझे भय किस बातका। जब इस आत्मस्वरूपपर दृष्टि नहीं रहती है तब परकी बातोंको देखकर भय रहा करता है। प्रसंगकी बात है, कभी चित्तमें यह आता है कि इस

देशपर दूसरे देशवाले आजायें, आक्रमण कर दें या शासन करने लगें तो फिर क्या हाल होगा ? बरबाद हो जायेंगे। अरे आत्मीय नातेसे बात कही जा रही है। सामाजिक और राष्ट्रीय नातेसे नहीं। ये हम आप मरण करके उन्हीं विरोधी देशोंमें पैदा हो जायें तब क्या कामना करेंगे। जीव तो वही है। सोचते हैं कि ये सारा देश किस ओर जायगा, यदि दूसरे शासक हो जायेंगे तो। अरे तुम तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हो, बाह्यमें दृष्टिकी ममता जगाते, इसलिये यह भय हो रहा है। यहाँ आध्यात्मिक मंच पर बैठे हुए सुनने की बात कही जा रही है, सामाजिक और राष्ट्रीय नातेकी बात वहाँके मंच पर है ही, उसकी अभी चर्चा नहीं कर रहे हैं।

ज्ञानी पुरुषकी निर्भयताका कारण—ज्ञानी पुरुषको अतरंगमें भय क्यों नहीं रहता उसकी बात कही जारही है। वह जानता है कि मैं सदा स्वरक्षित हूँ, अरक्षा है ही नहीं। कदाचित् कोई राजा मुझे अपराध लगाकर फांसीका भी हुक्म दे दे, वहां भी मैं अरक्षित नहीं हूँ। वहा पर भी मैं परिपूर्ण स्वरक्षित हूँ। जो मैं हूँ वह स्वरक्षित हूँ, जो मैं नहीं हूँ उसकी चर्चा ही क्या करना है। जब जो मैं नहीं हूँ उसे मैं मानने लगूँ, अपना मानने लगूँ तो भय करना ही पड़ेगा। जो अपराध करता है उसको भय रहा करता है। जिसने अपराध नहीं किया उसको भय किस बातका। अनात्मीय पदार्थमें यह मैं हूँ ऐसा विश्वास होनेपर भयकी उत्पत्ति होती है। एक ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वको छोड़कर मेरा अन्य कुछ है ही नही, और मानले अन्य कुछमें कि यह मैं हूँ तो इस अपराधका दण्ड यह है कि निरन्तर भयशील रहे, निरन्तर सक्लेश करे। यदि भयसे और संक्लेशसे छुटकारा पाना है तो कर्तव्य यह है कि हम अपने आपके यथार्थ स्वरूपका परिज्ञान करें और उसकी ही श्रद्धा रखें।

ज्ञानीके मरणभयका अभाव—अज्ञानीजन थोड़ी भी कल्पना मनमें लायें कि अब तो मरण होनेवाला है तो कितने भयभीत होते हैं। हाय मरण होगा, बहुत मुश्किलसे यह मनुष्य भव पाया, इसे छोड़कर जाना होगा। इतना धन सञ्चय किया, इसका वियोग होगा ऐसी कल्पना करके उसके क्लेश कई गुणा बढ़ जाते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुषको मरणभय ही नहीं है। क्यो नहीं है ? वह जानता है कि जो मेरा है वह मेरेसे कभी बिछुड नहीं सकता। जो मेरा नहीं है वह इस जीवन में भी मुझसे बिछुड़ा हुआ ही है। एक घरमें १० आदमी रहते हैं, उनमेंसे कुछ ऐसे भी होते हैं कि एक दूसरेका मन बिल्कुल नहीं मिलता है, अत्यन्त विपरीत विचार रहते है, वे घरमें रहते हुए भी बिछुडे हुए ही हैं, रह रहे हैं एक घरमें, जब स्वरूप नहीं मिलता, विचार नहीं मिलता तब सयोग क्या ? यो ही यद्यपि इस समय शरीर भी लगा है, किन्तु इस आत्माका स्वरूप इससे मिलता ही नहीं

है। यह मैं अत्यन्त विमुख हूँ अन्य सब चेतन अचेतन पदार्थोंसे । तो निकट रहता हुआ भी यह सब बिछुड़ा ही है। इसमे आता ही नहीं कुछ । फिर जो बिछुड़ गया उसका क्या खेद ?

विभक्तोंकी विभक्तता—एक कुजड़ा कुजड़ी थे, दोनो बूढ़े थे । कुजड़ा ऊँटपर सवार होकर रोजगारको जाया करता था वह बुढ़िया उस बुड्ढेसे जला करती थी। उस बुढ़ियाका मन उस बुड्ढेसे न मिलता था सो रोज रोज दोनोंमें लड़ाई हुआ करती थी। अचानक ही एक दिन बुड्ढा गुजर गया तो लोग कहते हैं कि ऐ बुढ़िया अब तो तेरा बुड्ढा गुजर गया। अब क्या करेगी, बुढ़िया कहती है–ओ वह सरगमे तो चढ़ा ही रहता था, थोड़ासा और ऊपर चला गया। सरग मायने है ऊँट। ऊँटपर तो चढ़ा ही रहता था थोड़ासा और चढ़ गया। यों ही समझो कि मेरे आत्माको छोड़कर अन्य समस्त पदार्थ इस समय जुदे तो हैं हीं। किसी समय क्षेत्रके अपेक्षा और जुदे हो गए, जुदे तो दोनों जगह बराबर हैं। किसी चीजके वियोग होनेका फिर विवाद क्या ? यह मै आत्मतत्त्व ज्ञानदर्शन करिके परिपूर्ण हूँ, मेरा ज्ञान और दर्शन निधि है। वह कभी वियुक्त नहीं हो सकता। मेरा प्राण ज्ञान और दर्शन है। ये १० प्राण द्रव्य प्राण हैं। इनका वियोग होता है, ये मेरी चीज ही नहीं हैं। मैं तो ज्ञान दर्शन स्वरूप हूँ, काहेका मरण। मरणका भय ज्ञानीको नही होता है।

मोह ममतामे मरण भयकी निष्पत्ति—मरणके समयमे भय होता है मोह ममता के कारण। हाय यह सब छूट रहा है । मरने जा रहे हैं और कहते जा रहे हैं कि अमुकको और बुलादो, मरते समय उसका मुख देखलें। तो इतनेमें कौनसी बड़ी निधि पाली कि अब मरण रुक जायगा। क्या वियोग रुक जायगा ? कभी मरणहार पुरुष बड़ी बुरी दशामे हो, बोल थक गया हो, बेहोश भी रहता हो, मर नहीं रहा तो लोग अर्थ लगाते हैं कि इसकी जान किसीमे अटकी है। कहाँ अटकी है ? सब लोग जुदा-जुदा अर्थ निकालते हैं। अरे उस लड़कीको बुलादो, शायद उस लड़कीमे ही जान अटकी हो, अमुक दामादको बुलादो, अमुक भाईको बुलादो और कदाचित् किसीके आते समय ही उसका मरण होजाय तो लोग शान बगराते हैं कि देखो मैं कहता था ना कि इसके प्राण अमुकपर अटके हैं। देखो इसकी लडकी आगयी तो इसका मरण होगया । क्या किया जाय चर्चा करनेवाले मोहकी पद्धतिमें है और मरनहार भी मोहकी पद्धतिका है। तो कहते हैं ना, आप डुबन्ते पांडे ले डूबे जजमान । तो यहाँपर चर्चाके करनेवाले खुद डूब रहे हैं और इस मरण करनेवालेको भी डुबा रहे हैं।

ज्ञानीका निःशंक स्वसंचेतन—ज्ञानी पुरुषके मरणभय नहीं रहता है। वह तो निःशंक होता हुआ अपने ज्ञानस्वरूपका ही संचेतन करता है। यह मैं तो पूरा

अकेला हूँ, और कहीं जाऊँगा तो अकेला ही जाऊँगा। पूराका पूरा जाऊँगा। जैसे किसी बड़े आदमीका तबादला हो तो उसे एक बोगी मिलती है, रेलगाड़ीका डिब्बा मिलता है, नौकर चाकर मिलते हैं। सारे नौकर चाकर चूल्हा, चक्की, गैया, बछड़ा सब कुछ लादकर चल देनेके लिए तैनात रहते हैं। जितना आदर यहाँ होता है उससे भी अधिक आदर करनेके लिए दूसरी जगहके लोग प्रतीक्षा करते रहते हैं। वहाँ प्रजाजन खड़े रहते हैं। उस आफीसरको उस तबादले में कौनसी हानि है। यों ही इस मरनेवाले पुरुषको जिसका कि तबादला होरहा है, पुराने शरीरको छोड़कर नये शरीरमें जारहा है। अपना समस्त स्वरूप, समस्त ऋद्धि साथमे ले जायगा, उसे कौनसी आफत आयगी। जब अज्ञान छा जाता है तो उसपर आपत्ति विछा करती है। ज्ञानी पुरुषको मरणका रंच भी भय नहीं होता। ऐसे निर्भय पुरुपका स्वपर कल्याणके भावसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता।

सम्यग्दृष्टिके अत्राणभयका अभाव—तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करनेवाला अन्तरात्मा सर्व भयोंसे रहित होता है। इस प्रकरणमें यह बताया गया है कि न उसे इस लोकका भय है न परलोकका भय है न अगुप्तिका न वेदनाका और न मरण का भय है। वह तो नि.शंक निरन्तर निज सहज ज्ञानस्वरूपका संचेतन करता है। ऐसे दर्शनविशुद्ध अन्तरात्माके अत्राणभय भी नहीं है जबकि अज्ञानीजन सदा इस चिन्तामें रहा करते हैं कि मेरेको इस जगतमें कोई शरण नहीं है। जिसकी शरण देखते हैं वहाँ ही धोखा मालूम होता है, चाहे अचेतन पदार्थोंकी शरण जावो और चाहे चेतन पदार्थोंकी शरण जावो। वेचारे अचेतनो व चेतनोंका कसूर नहीं है वे तो अपने परिणमन से अपनी योग्यतानुसार परिणमेंगे। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। यहाँ तो यह पुरुष स्वयं अपनी कल्पना बनाता है और सुखी हो जाता है। कोई परपदार्थ इस जीवका शरण नहीं है। बात ऐसी है, किन्तु अज्ञानी जीवकी परपदार्थमें शरणबुद्धि है कि मुझे यह शरण है मुझे अमुक शरण है और होता कुछ शरण है नहीं तब यह दुखी होता है।

यथार्थ निर्णयमें क्लेशोंका अभाव—भैया! यदि पहिले से मान जाये कि मेरे लिए लोकमें कहीं कुछ शरण नहीं है फिर विपदा आनेपर दुःख न होगा। पदार्थ है किसी भांति, मान रक्खा अन्य भाँति इसीसे दुःख होता है। कोई गृहस्थ पहिले से ही यदि यह मानले कि जितना संयोग होता है उसका नियमसे वियोग होगा, तो वियोग होते समय उसे कष्ट न होगा। वह तो यह सोचेगा कि मैं तो पहिलेसे ही जानता था कि यह चीज रहनेवाली नहीं है। मिटेगी वह जरूर, यह पहिलेसे ही जानते थे। और कोई अज्ञानसे ऐसी बुद्धि बनाए कि अरे मिटते होंगे दूसरोंके समागम, हमारा वैभव समागम नहीं मिटनेको है। कैसे मिटेगा? मैं बलवान हूँ, कलावान हूँ, लोगोंमें मेरी इज्जत है, चला है, कैसे मिटेगा, ऐसी

कोई बुद्धि बनाए और वह मिट जाय तब यह दु खी होगा।

परसंयोग वियोगकी अज्ञात दशा—सम्पदाको न कोई आते समझ सकता है कि कब कहांसे आजाता है और जाते समय न कोई जान सकता है कि कब कहाँ चला जाता है। अरे आये तो क्या, जाये तो क्या। मेरी शांति किसी परभावके आधीन नहीं है। हो तो टटोल लो। जो बड़े-बड़े धनिक लोग है वे कितने शांत हैं, कितने सुखी हैं। अरे बाह्य पदार्थोंमें यह मेरा है ऐसा मानकर अहंकार रसमें डूबकर कलुषित मौज मानते है किन्तु ये टिक कब सकते है। टिकनेवाली बात तो अपना सहज स्वरूप है। उसपर दृष्टि जाय तो उसको छीननेवाला लोकमें कोई नहीं है। अज्ञानीको अशरणपनेका भय बना रहता है। मेरेको कही कोई शरण नही है यों शंकित होता हुआ दुखी रहता है।

अज्ञानीका अनुकूलताविषयक स्वप्न—अच्छा बतावो सब लोग किसी एकके अनुकूल हुए है क्या आज तक ? एक भी उदाहरण बतावो। जब यहाँ भगवान्‌के अनुकूल भक्त प्रेमी अनुरागी सब लोग हो सकते थे। यह इन्द्रजालिया है, यह अपनी शान बगरा रहा है। ऐसा कहनेवाले लोग भगवानके समयमे भी न थे क्या ? फिर कितने आश्चर्यकी बात है कि यह अज्ञानी मोही प्राणी यह चाहता है वैसा वस्तुका स्वरूप नही इस कारण यह दु खी होता है। मरण समय पर मणि तन्त्र मन्त्र बड़े राजपाट परिजन सब कुछ धरे रह जाते है। कोई बचानेमे समर्थ नही होता। मरणकी भी बात छोड़दो, कोई पेट दर्द या शिर दर्द या बुखार किसीके हो तो उसको भी कोई बॉट नहीं सकता। साधारण भी चिन्ता हो उसे भी बॉट लेनेवाला कोई नहीं है। यह जगत अशरण है, यहाँ मेरा कोई शरण नहीं है।

अशरणताके चित्रणपर एक दृष्टान्त—एक सभा भरी हुई थी। राजा भोजके समयकी बात है। राजाने एक पंडितके बापसे कहा जो पासमें बैठा हुआ था कि पंडितजी कोई कविता सुनावो। मेरी इस समस्याकी पूर्ति कर दो "क यामः किं कुर्मः हरिणशिशुरेवं विलपति"। तो यह तो जरूरी नही है कि पंडितका बाप भी पंडित हो, वकीलका बाप भी वकील हो। तो उस पंडितका वह बाप पढ़ा लिखा न था, वह देहाती भाषामें टूटी फूटी भाषामें पंडितका बाप बोलता है पुरारे बापा। बापा कहीं-कहीं बच्चोंको भी बोलते हैं। तो पुरा रे बापा मायने ऐ बच्चे तू इसकी पूर्ति करदे। वह तो देहाती भाषामें बोला था पुरा रे बापा। तो कविने उन्हीं शब्दोंको (पुरा रे बापा) मिलाकर कविता बनादी ताकि लोगोंको यह विदित न हो कि बाप मूर्ख है। क्या कविता बनायी ?

पुरा रेवापारे गिरिरतिदुरारोहशिखरे, गिरौ सव्येऽसव्ये दवदहनज्वालाव्यतिकरः।
धनुःपाणिःपश्चान्मृगयुशतकं धावति भृशं, क यामः किं कुर्मः हरिणशिशुरेवं विलपति ॥

इसमें समस्याका पद अन्तके चरणमें कहदिया और पुरा रे बापा यह शब्द पहिले ही बोल दिया। इस छन्दका अर्थ यह है कि रेवा नदीके तटपर समीपमें आगे तो नदी बहरही है और अगल बगल पर्वतमें बड़ी आग लग गयी है और पीछेसे १०० शिकारी धनुषबाण लिये हुये हिरणके बच्चेको जानसे मारनेके लिये पीछे लगे हैं, ऐसी स्थितिमें हिरणका बच्चा कहरहा है कि कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, इस प्रकार वह हिरणका बच्चा विलाप कर रहा है।

अशरणताका चित्रण—भैया ! ऐसी ही स्थिति हम आपकी है । मोहमें पड़े हैं, अज्ञानका अंधेरा छाया है। शांति सन्तोषकी बात मिल नहीं पाती। विषय कषायोंकी अग्नि दहक दहक रही है। आगे दुर्गतियोंके गड्ढे पड़े हुए हैं और यह मृत्यु पीछेसे इसे मारनको दौड़ रही है। जैसे एक बांसकी पोलमें कीड़ा घुसा हो और दोनों ओर आग लग जाय तो कीड़ेकी क्या हालत है । ऐसे ही हम आप जंतुओंके दोनों छोर पर सतपन लग रहा है। इसके दोनों छोर क्या हैं ? जन्म और मरण। जन्मसे शुरू हुआ और मरणमें अन्त है एक भवका, यह जो जीवन है वह ओर है और इसका जो अन्त है यह छोर है। इसके ओर छोर हैं जन्म और मरण। इसके बीच पड़े हुए हैं हम आप कीड़ा। जन्म मरणके आगे दोनों ओर आग लगी है। अब इस कीड़ाकी क्या दशा है, विलाप करता है, संताप करता है, पर हाय रे मोही सुभट तू इतना बलवान है और पहलवानी जता रहा है कि चाहे कितने ही उपद्रव हो, हम तो स्त्री, धन वैभव मे मस्त हैं, कोई फिक्र नहीं। क्या शरण है जगत में, इसका भी तो ध्यान कर।

भयका मूल कारण—इस अशरण जगतमें अज्ञानीने बाह्य पदार्थोंको शरण माना है, इस कारण उसे भय है । जो बाह्य पदार्थोंसे अपनेको शरण नहीं मानता, अपने आपके स्वभावकी उपासनामें ही अपना शरण समझता है उसे किसी प्रकारका भय नहीं हैं, भय होता है ममतामें। वस्तुस्वरूपके यथार्थ ज्ञानीको बाह्य पदार्थोंमें ममता नही है इसलिये ये सब ज्ञान कलायें प्रकट हुई हैं। गुरू शिष्य वाली कथा प्रसिद्ध है । गुरूको मिली कहीं सोनेकी ईंट सो सो शिष्यके सिरपर रख दिया। गुरू आगे चले और पीछे शिष्य चले। सम्भव है कि वह ईंट आध मनकी होगी । मारे भारके वह मरा जाय। चलते हुये मार्गमें एक जंगल मिला। गुरू शिष्यसे कहता है कि ऐ शिष्य यहाँ सम्हलकर चलना, पैरकी आवाजसे पत्ते न खड़कने पायें। आगे चलकर शिष्यने उस ईंटको एक एक कुए में धीरेसे पटक दिया। गुरू अब जब कहता है कि देखो धीरेसे चलना, पत्ते न खड़कने पायें । तो शिष्य कहता है महाराज अब खूब निःशंक चलो, डरकी चीज तो मैंने खतम कर दी। वह डरकी चीज थी ममता, अहं बुद्धि। यह मेरी चीज है ऐसा मानने से सारे भय लग जाते हैं।

ज्ञानी गृहस्थ का साहस—भैया ! ज्ञानी पुरुष यद्यपि गृहस्थ पदवीमें बहुतसे प्रसंगोंमें रहता है, वहाँ झंझट भी है, गृहस्थी भी बसाई है, धनका भी सम्बन्ध है पर उसके अंतरङ्गमें इतना महान साहस भरा हुआ है कि कोई अवसर ऐसा आ जाय कि कुछ भी न रहे तो भी कोई हर्ज नही । यह मैं तो परिपूर्ण निज ज्ञायकस्वरूप मात्र हूँ, मेरा क्या बिगाड़ है इतना गाँठका बल है जिस बलपर वह सदा सुखी रहता है। जैसे किसीकी जेब खूब गरम हो या घरकी तिजोरी खूब गरम हो, मायने धन दौलत खूब भरी हो तो वह चाहे कुछ खर्च न करे, पर एक बोतल का नहीं तो आधे बोतल का ही सही नशा चढ़ा रहता है । कुछ न कुछ मिजाज वह बनाये ही रहता है, चाहे वह खर्च न करे, पर गाँठमे बल तो है। मौका पड़ेगा तो देख लेगा। यों ही समझ लो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको गाँठका बल है कि मैं परिपूर्ण हूँ, एकाकी हूँ, ध्रुव हूँ, चित्स्वभाव मात्र हूँ, मेरा कहाँ बिगाड़ है। मेरी कहीं अरक्षा नहीं। यह बल है उस ज्ञानी मे। चाहे वह अपने व्यवहारमे कुछ प्रयोग करता है, कुछ नम जाता है, दूसरोंके आगे कुछ दब जाता है, बहुत सी बातें होती हैं, किन्तु अन्तरमे उसके गाँठका ऐसा बल पड़ा हुआ है कि अनेक चेष्टायें होकर भी भीतर मे वह साहसी है इस कारणसे आंतरिक निर्बलता ज्ञानी गृहस्थमे नहीं होती है मैं स्वयं सत् हूँ इसी कारण स्वयं सुरक्षित हूँ, इसकी अरक्षा ही नहीं है, फिर अरक्षाका भय क्या है ऐसा जानकर यह दर्शनविशुद्ध ज्ञानी पुरुष निरन्तर उस सहज ज्ञानका ही सचेतन करता है, जैसा मैं यह हूँ अपने आपकी वृत्तिसे अपने आपको शरण मानने वाला वह दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा निर्भय रहा करता है।

ज्ञानी के आकस्मिक भयका अभाव—एक भय और होता है वह बड़ा विचित्र भय है जिसका नाम है आकस्मिक भय। होगा कोई ऐसा डरपोक पुरुष जो यह कल्पना कर रहा हो कि थोड़े बिखरे बादल है, कहीं बिजली कड़ककर हमपर गिर न जाय, नहीं तो हम मर जायें । ऐसा भी इस समय कोई सोच रहा होगा क्या ? अगर ऐसा कोई सोचता है तो उसे कितना मूर्ख मानोगे । अरे कुछ आसार नहीं, कुछ बात नहीं और मान लेवे तो उसे मूर्ख माना जायगा। यों ही कोई और माने कि कहीं यह भींट चटककर मेरे ऊपर न गिर जाय तो प्राण ही चले जायेंगे ऐसी अट्ट सट्ट आकस्मिक बात कोई सोचे तो उसे कितना बेवकूफ कहा जायगा । ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि इस मुझ आत्मामें कोई दूसरा पदार्थ आ ही नहीं सकता। दूसरे पदार्थसे मुझमे कोई वृत्ति बने ऐसा नहीं होता है। यहां कुछ भी आकस्मिक नहीं है। जो मेरा स्वरूप है, चैतन्य है उस चैतन्य स्वरूपके अनुसार ही मुझमें वृत्ति बनेगी । अट्ट सट्ट वृत्ति नहीं बना करती है। इसमें क्या आकस्मिक भय होगा।

इसमें समस्याका पद अन्तके चरणमें कहदिया और पुरा रे चापा यह शब्द पहिले ही बोल दिया। इस छन्दका अर्थ यह है कि रेवा नदीके तटपर समीपमें आगे तो नदी बहरही है और अगल बगल पर्वतमें बड़ी आग लग गयी है और पीछेसे १०० शिकारी धनुषबाण लिये हुये हिरणके बच्चेको जानसे मारनेके लिये पीछे लगे हैं, ऐसी स्थितिमें हिरणका बच्चा कहरहा है कि कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, इस प्रकार वह हिरणका बच्चा विलाप कर रहा है।

अशरणताका चित्रण—भैया! ऐसी ही स्थिति हम आपकी है। मोहमें पड़े हैं, अज्ञानका अंधेरा छाया है। शांति सन्तोषकी बात मिल नहीं पाती। विषय कषायोंकी अग्नि दहक दहक रही है। आगे दुर्गतियोंके गड्ढे पड़े हुए हैं और यह मृत्यु पीछेसे इसे मारनेको दौड़ रही है। जैसे एक बांसकी पोलमें कीड़ा घुसा हो और दोनों ओर आग लग जाय तो कीड़ेकी क्या हालत है। ऐसे ही हम आप जंतुओंके दोनों छोर पर सतपन लग रहा है। इसके दोनों छोर क्या हैं? जन्म और मरण। जन्मसे शुरू हुआ और मरणमें अन्त है एक भवका, यह जो जीवन है वह ओर है और इसका जो अन्त है वह छोर है। इसके ओर छोर है जन्म और मरण। इसके बीच पड़े हुए हैं हम आप कीड़ा। जन्म मरणके आगे दोनों ओर आग लगी है। अब इस कीड़ाकी क्या दशा है, विलाप करता है, संताप करता है, पर हाय रे मोही सुभट तू इतना बलवान है और पहलवानी जता रहा है कि चाहे कितने ही उपद्रव हों, हम तो स्त्री, धन वैभव में मस्त हैं, कोई फिक्र नहीं। क्या शरण है जगत में, इसका भी तो ध्यान कर।

भयका मूल कारण—इस अशरण जगतमें अज्ञानीने बाह्य पदार्थोंको शरण माना है, इस कारण उसे भय है। जो बाह्य पदार्थोंसे अपनेको शरण नहीं मानता, अपने आपके स्वभावकी उपासनामें ही अपना शरण समझता है उसे किसी प्रकारका भय नहीं है, भय होता है ममतामें। वस्तुस्वरूपके यथार्थ ज्ञानीको बाह्य पदार्थोंमें ममता नहीं है इसलिये ये सब ज्ञान कलायें प्रकट हुई हैं। गुरू शिष्य वाली कथा प्रसिद्ध है। गुरूको मिली कहीं सोनेकी ईंट सो सो शिष्यके सिरपर रख दिया। गुरू आगे चले और पीछे शिष्य चले। सम्भव है कि वह ईंट आध मनकी होगी। मारे मारके वह मरा जाय। चलते हुये मार्गमें एक जंगल मिला। गुरू शिष्यसे कहता है कि ऐ शिष्य यहाँ सम्हलकर चलना, पैरकी आवाजसे पत्ते न खड़कने पायें। आगे चलकर शिष्यने उस ईंटको एक कुए में धीरेसे पटक दिया। गुरु अब जब कहता है कि देखो धीरेसे चलना, पत्ते न खड़कने पायें। तो शिष्य कहता है महाराज अब खूब निःशंक चलो, डरकी चीज तो मैंने खतम कर दी। वह डरकी चीज थी ममता, अहं बुद्धि। यह मेरी चीज है ऐसा मानने से सारे भय लग जाते हैं।

ज्ञानी गृहस्थ का साहस—भैया ! ज्ञानी पुरुष यद्यपि गृहस्थ पदवीमें बहुतसे प्रसंगोंमें रहता है, वहाँ झंझट भी है, गृहस्थी भी बसाई है, धनका भी सम्बन्ध है पर उसके अंतरङ्गमें इतना महान साहस भरा हुआ है कि कोई अवसर ऐसा आ जाय कि कुछ भी न रहे तो भी कोई हर्ज नहीं । यह मैं तो परिपूर्ण निज ज्ञायकस्वरूप मात्र हूँ, मेरा क्या बिगाड़ है इतना गाँठका बल है जिस बलपर वह सदा सुखी रहता है। जैसे किसीकी जेब खूब गरम हो या घरकी तिजोरी खूब गरम हो, मायने धन दौलत खूब भरी हो तो वह चाहे कुछ खर्च न करे, पर एक बोतल का नहीं तो आधे बोतल का ही सही नशा चढ़ा रहता है । कुछ न कुछ मिजाज वह बनाये ही रहता है, चाहे वह खर्च न करे, पर गाँठमें बल तो है। मौका पड़ेगा तो देख लेगा। यों ही समझ लो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको गाँठका बल है कि मैं परिपूर्ण हूँ, एकाकी हूँ, ध्रुव हूँ, चिद्स्वभाव मात्र हूँ, मेरा कहाँ बिगाड़ है। मेरी कहीं अरक्षा नहीं। यह बल है उस ज्ञानी में। चाहे वह अपने व्यवहारमें कुछ प्रयोग करता है, कुछ नम जाता है, दूसरोंके आगे कुछ दब जाता है, बहुत सी बातें होती हैं, किन्तु अन्तरमें उसके गाँठका ऐसा बल पड़ा हुआ है कि अनेक चेष्टायें होकर भी भीतर में वह साहसी है इस कारणसे आंतरिक निर्बलता ज्ञानी गृहस्थमें नहीं होती है मैं स्वयं सत् हूँ इसी कारण स्वयं सुरक्षित हूँ, इसकी अरक्षा ही नहीं है, फिर अरक्षाका भय क्या है ऐसा जानकर यह दर्शनविशुद्ध ज्ञानी पुरुष निरन्तर उस सहज ज्ञानका ही संचेतन करता है, जैसा मैं यह हूँ अपने आपकी वृत्तिसे अपने आपको शरण मानने वाला वह दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा निर्भय रहा करता है।

ज्ञानी के आकस्मिक भयका अभाव—एक भय और होता है वह बड़ा विचित्र भय है जिसका नाम है आकस्मिक भय। होगा कोई ऐसा डरपोक पुरुष जो यह कल्पना कर रहा हो कि थोड़े बिखरे बादल है, कहीं बिजली कड़ककर हमपर गिर न जाय, नहीं तो हम मर जायें । ऐसा भी इस समय कोई सोच रहा होगा क्या ? अगर ऐसा कोई सोचता है तो उसे कितना मूर्ख मानोगे । अरे कुछ आसार नहीं, कुछ बात नहीं और मान लेवे तो उसे मूर्ख माना जायगा। यों ही कोई और माने कि कहीं यह भींट चटककर मेरे ऊपर न गिर जाय तो प्राण ही चले जायेंगे ऐसी अट्ट सट्ट आकस्मिक बात कोई सोचे तो उसे कितना बेवकूफ कहा जायगा । ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि इस मुझ आत्मामें कोई दूसरा पदार्थ आ ही नहीं सकता। दूसरे पदार्थसे मुझमें कोई वृत्ति बने ऐसा नहीं होता है। यहां कुछ भी आकस्मिक नहीं है। जो मेरा स्वरूप है, चैतन्य है उस चैतन्य स्वरूपके अनुसार ही मुझमें वृत्ति बनेगी । अट्ट सट्ट वृत्ति नहीं बना करती है। इसमें क्या आकस्मिक भय होगा।

भवितव्यका दिग्दर्शन—विवेकी समझता है कि मेरा भवितव्य सब कुछ मुझे दिख रहा है, क्योंकि सारी कुन्जी भवितव्यके लिये यह उसके ही अन्दर है। अपने परिणामोंपर कोई दृष्टि दे तो अपना निर्णय बता सकता है कि मेरा होनहार कैसा है, पर अपने परिणामोंपर दृष्टि देनेवाला भी कोई है ? कोई दे सके दृष्टि, तो दूसरोंसे पूछनेकी कोई जरूरत नहीं है स्वयं ही यह बता देगा कि मैं ऐसा हूँ।

नरक गतिकी प्राप्तिके लक्षण - देख लो, यदि बहुत आरम्भ और परिग्रहमें निरत रहते हैं, अवकाश ही नही मिलता कि ज्ञान की दो बातें बाँच सकें, सुन सकें, कुछ सत्सग कर सकें। हितकी बात सुननेका भी जिन्हें अवकाश नहीं है जो यों कह बैठते हैं कि मुझे तो मरनेतक की फुरसत नही है, यह बात तो खैर उनकी गलत है। जिन्हें आरम्भ और परिग्रह की वासनाके कारण रंच भी हितकी बात सुननेका, बाँचनेका, चिंतनका अवकाश नहीं है, शास्त्रमें ऐसे पुरुषके लिये बताया गया है। सबको मालूम होगा एक सूत्र है, "बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः" स्पष्ट बात है, नरकमें जानेकी तैयारी है, है कुछ बात नही, अपने परिणामोंपर दृष्टि दें तो बात समझमें भी आ जायगी।

तिर्यग्गतिकी प्राप्तिके लक्षण—यदि मायाचारका परिणाम बनाया जारहा है, किसी ने कुछ कहा किसी ने कुछ, किसीकी भाषा भी न्यारी-न्यारी बन गयी। नौकरोंसे बोलनेकी भाषा नौकर ही जाने, दूसरे न पहिचान सकें कि क्या कह रहे हैं। दिखनेमें दूसरोंको लगता है कि ये बडे सीधे हैं, किन्तु भाषा भी अलग अलग बन गयीं, गुप्त भाषामें छल कपट दिलमें भरे पडे हुए हैं। जैसे बगुला को देखकर लोग सोचें कि इसका तन भी सफेद है, एक चित्त होकर एक टांगसे खड़ा है, यह तो बड़ा अच्छा है, पर अन्दर क्या है भाँप भी नहीं सकते, ऐसा मायाचारका परिणाम हो तो अपनी बात अपनेको समझमें आ सकती है। दृष्टि देनेकी जरूरत है, ऐसे परिणाम वालेका भवितव्य स्पष्ट है, तिर्यञ्च गतिमें वह जन्म लेगा। पशु बने, पक्षी बने, कीडा मकोड़ा बने, कुछ बन जाय।

देवगतिकी प्राप्तिके लक्षण—अपने आत्मामें वास्तवमें धर्म बुद्धि है, संयम, दया, दान, उपवास, शील इनकी प्रीति है, अपनेमें आपमें कषायोंकी मन्दता है, दूसरोंको क्षमा कर सकें, दूसरोंके उपकारका परिणाम हो, गुरुभक्तिका महान् आवास हो आदिक यदि धर्मबुद्धि है, व्रत आदिक भाव हैं तो वह देव गतिमें जन्म लेगा।

मनुष्य गतिकी प्राप्तिके लक्षण—भैया ! जो अपने मध्यम वर्तावसे चलता है, अल्प आरम्भ है, अल्प परिग्रह है, शांति समतासे रहता है वह मरकर फिर मनुष्य हो लेगा। अपने परिणामोंका निरीक्षण करें तो अपने को स्पष्ट मालूम

हो जायगा अपना भवितव्य। सो वे सब मेरी ही सृष्टि हैं, मेरी ही करतूत है, अपनी कल्पनासे अपने आपमें आफतें और आपत्तियां उत्पन्न करली जाती हैं।

निर्भय स्वरूपके अनुभवकी पात्रता--यहाँ कोई आकस्मिक भय नहीं है। जैसे सफरमें चल रहा मुसाफिर अपने पास भोजन रक्खे है, टिपिन बाक्स रक्खे है तो जैसे वह निर्भय नि:शंक रहता है, जब भी भूख लगी टिपिन बाक्स खोला और खा लिया, कोई कष्ट नही है, यों ही जब तक कि यह संसार यात्रा है तब तक ज्ञानी पुरुषके पास ऐसा अनोखा भोजन है ऐसा अनुपम टिपिन-बाक्स है कि उसे कभी शंका ही नहीं रहती। जब चाहे किसी समय, जब भी दृष्टि हुई, अपनी इन्द्रियोको संयत किया, आखोको बन्द किया और अन्तर में अपने आपको स्वभाव दृष्टिकी कि लो सारे सकट उसके टल गये। कोई अशांति नहीं रही अब। उसे क्या शंका है, उसे किसका भय है।

धन जीवनके उपेक्षकको भयका अनवकाश--लोकमे दो चीजोका भय मानता है यह प्राणी, एक जीवनक्षयका और एक धनक्षयका। जिसको जीवन और धन ये दोनो ही भिन्न अहित असार न कुछ नजर आते है, जिसने अपने ज्ञानस्व-भावका अवलोकन किया है जिसे अपनी परम कला विदित है। जो जीवन और धनको अहित मानकर उनसे विरक्त हैं, उसे किसी चीजका क्या भय ? वह तो जानता है कि मेरा जीवन तो मेरा ज्ञान दर्शन है। कोई धन ले गया तो ले जावो। मेरा धन तो मेरा निजी स्वरूप है। कभी यदि थोड़ी शका हो जाय, फिर लोगोमे अपनी पोजीशन रखनेकी बात आ जाय तो उसे कहाँ रही आत्मामें रुचि। कहाँ रही वह आंतरिक प्रीति। यद्यपि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी गृहस्थ भी अपना यश, अपना पोजीशन व्यवस्थित बनाये रहता है, किन्तु वह पोजीशनसे चिपका हुआ नहीं रहता। यश भी बन जाता है और उससे परे भी रहता है ज्ञानी।

ज्ञानी पुरुषका सहज व्यवहार--ज्ञानी पुरुषके तो सहज पोजीशन बनती है। बनानेसे पोजीशन नहीं बनती है। लड़के भी पोजीशनका खेल खेलते हैं किसी लड़केसे कहा किसी लड़केने कि बन जावो राजा, सिपाही अथवा अन्य कोई। लो वह बन गया। थोड़ी देरके बादमे खेल-खेल मे ही उसे घूँसा थप्पड़ से मार दिया हो फिर क्या रहा वह बनना। अरे तो कोई ऐसा बन जानेसे बनता है ? कुछ यों ही अपना यत्न करनेसे पोजीशन बना लेता है क्या ? सहज ऐसा गुण हो तो होता है। अपनेमें अपनी चीज ही आती है ऐसा निर्णय है ज्ञानीको, इससे इस जीवको आकस्मिक भय भी नहीं होता। उसको श्रद्धा है कि मेरेमे अन्य पदार्थोसे कोई आपत्ति ही नहीं आ सकती।

अन्तरात्माकी अभंकरता--वीतराग सर्वज्ञ परमात्मतत्त्वको श्रद्धा रखने

वाले, और विषय कषायोंको दूर करनहारे उपदेशसे भरे हुए शास्त्रोंके अनुरागी और ज्ञान ध्यान तपस्यामें लवलीन एवं आरम्भ परिग्रहसे विरक्त साधुवोंकी उपासनामें लीन अन्तरात्मा पुरुष सप्तभय रहित अपनेको अनुभव कर रहा है ऐसा यह अन्तरात्मा जब जगतके प्राणियोंके स्वरूपकी ओर दृष्टि देता है तो उसे एक टीस सी पहुंचती है कि अहो, कितना तो सुगम उपाय है आनन्द पाने का, अपने आपको पवित्रतम और आनन्दमय बनाने का, उपाय क्या, यह ही स्वयं आनन्दमूर्ति है, किन्तु अपने आपका विश्वास न करके इन विषय भोगोंसे भीख मांगता फिर रहा है। इतनी सुदृष्टि जगे, अपने आपमें रमनेकी पद्धति मिले ऐसी परम करुणाका भाव होता है। इस भावके फलमें यह महात्मा भविष्य कालमें धर्मका विशेष नेता बनता है।

परोक्षभूत पदार्थोंका श्रद्धान—इस अन्तरात्माके सहज ही ऐसी श्रद्धा रहती है कि जो कथनी स्वर्ग नरकों की है, ऊपर स्वर्ग है नीचे नरक है स्वर्गोंमें अमुक प्रकारकी रचना है, नरकोंमें अमुक-अमुक परिस्थितियां हैं, और भी परोक्षभूत द्वीप समुद्र हैं, लोकके स्थान है, महापुरुषोंकी जो कथाऐं आती हैं उन सबके प्रति इस कारण श्रद्धा रखता है कि जब जिसमें युक्ति चल सकती है ऐसे आत्म-हितके निर्णयके प्रयोजक सप्त तत्त्वोंमें कोई दोष नहीं मिल रहा है, वस्तुका स्वरूप जैसा कहा गया है उसमें कहीं दोष नहीं आ रहा है, जिन-जिन पदार्थों में वस्तुके स्वरूपकी प्रतिमा चल सकती है वे अनुभवमें शत प्रतिशत ठीक उतर रहे हैं, जिन्होंने यह उपदेश किया है उनके आत्मतत्त्वके उपदेशमें कोई विवाद नहीं होता है तब उपदिष्ट परोक्षभूत पदार्थोंका विवरण भी यथार्थ है। ऐसा अलौकिक अन्तरात्मा पुरुष अपनी और परकी परम करुणामें यत्नशील हो रहा है, अलौकिक तत्त्वके दर्शन करने करानेको उत्सुक हो रहा है।

धर्मके एवजमें लोकसुखकीवान्छाका अभाव—भैया! दर्शनविशुद्ध सम्यग्दृष्टि पुरुष विषय भोगोंमें वाञ्छा नहीं करता, इन्द्रियविषयोंकी वाञ्छा नहीं करता। इन्द्रियके विषयोंकी चाह करना संसारी जीवोंके प्राकृतिक हो जाता है। वे धर्म मार्गमें श्रद्धाको दूषित नहीं करते हैं, किन्तु धर्मको धारण करके उसके फलमें इन्द्रियके साधनोंको, समागमोंको चाहना यह विभाव श्रद्धाको दूषित कर देता है। कोई पुरुष ज्ञानी गृहस्थ दूकानपर जाता है तो क्या साधु बनकर जाता है? क्या उसके अन्तरमें यह भाव नहीं रहता है कि आज कुछ पैसोंकी प्राप्ति हो? रहता है भाव, पैसा भी जोड़ना है किन्तु मैं पूजा करूं, तीर्थ करूं, गुरुकी उपासना करूं, आहार दूं जिससे मेरेको बहुत पुण्य होगा और धन टूटकर आंगनमें गिरेगा ऐसा भाव ज्ञानीके नहीं होता है।

इन्द्रियसुखप्राप्तिकी पराधीनता व सान्तता—ये इन्द्रियके सुख जो कि मोही

जीवोंको भले लग रहे है ये हितकर नहीं है, कुछ सुख करने वाले नहीं हैं। हितकरकी बात तो दूर जाने दो, ये मात्र अहित ही करते हैं। यह सुख प्रथम तो बडा पराधीन है। कर्मोंका उदय अनुकूल हो तो यह सुख मिले। पहिली पराधीनता तो कर्मोदयकी है। उदय भी अनुकूल है और मिल भी गया तो बड़े विषादकी बात यह है कि वह नष्ट हो जायगा। ये इन्द्रियके साधन मिले तो है पर ये कभी मिटें नही ऐसी अज्ञानीकी चाह होती है पर ऐसा हो कैसे सकता है।

मरणसमयमें जीव व कायका प्रश्नोत्तर—मरणके समयमे यह मरने वाला जीव इस शरीरसे कहता है कि देख री काया, मैने जीवनभर तुझे कैसा सजाया, कैसे रस खिलाया, कैसा मिष्ठ भोजन कराया, तुझको देख देखकर मै कैसी शान बढ़ाता रहा, तुझको ही सजाकर मैने जगतमे इतना बड़प्पन बनाया, तेरे पीछे मैने सारी जिन्दगी लगादी, अब तो तू मेरे साथ चलना। तो यह शरीर मानो कहता है कविकी भाषामे कि अरे जीव तू बावला बन गया है। मै क्या अपना धर्म छोड़ दूँ। मै बड़े-बडे महापुरुषोंके साथ नही गयी तो तुझ जैसे किंकरके साथ तो मैं जाऊँगी ही क्या। शरीर वहाँ टटका जवाब देता है। इसी कारण लोग विवश है। यह धन, यह शरीर, यह महल यदि इनका सदा रहे, ऐसा दावा चल सकता होता और मरनेपर भी साथ जाता तो न जाने इस लोकमे क्यासे क्या ये मोही जीव कर बैठते। इस बातसे ही ये मोही जीव हैरान हो गये है। ये विषयोंके सुख विनाशीक है।

लौकिकसुखोमें क्लेशोंकी व्यापकता—खैर विनाशीक भी सही किन्तु इतनी बात हो तो भी भला है कि जब तक हैं तब तक भी निरन्तर सुख तो रहा करे। सो यह भी बात नही है। जब तक विषयोंका समागम है तब तक भी बीच-बीच अनेक बार दुख आते रहते है। कौनसा सुख ऐसा है जो परमार्थसे कुछ भी समय तक रहा करे, बीचमे दु.ख न आये? भोजनसुख है क्या? चीजें इकट्ठी करो, चूल्हा जलाओ, पकावो, बीच-बीचमें अन्य खटपटे भी करते रहें तब जाकर बड़े श्रमके बाद भोजनका सुख मिलता है। कोई भी सुख हो, गृहस्थी बसाते हैं तो स्त्रीका सुख और पुत्रोंका सुख, वहाँ भी यह बात देखते जावो कि बीच-बीचमे कितने कष्ट, कितने क्लेश सहने पड़ते हैं। पुत्रीकी शादी कर रहे हों तो लो चलो सबसे कहो सुनो, अब बरात आ रही है, शादी हो रही है, सारे प्रोग्राम चल रहे है, पर बेटीके पिताकी हालत देखो-जगह-जगह पर पंचोंके हाथ पैर जोड़ रहा है। पंच-लोगोंको भी उसी समय नखरे दिखानेका मौका मिलता है। कोई रूठ रहा है उसको मनाया। कितनी झंझटें उसे उठानी पड़ती हैं। कोई पहिलेका अपराध माने हो तो बड़ा ही मुश्किल हो जाता है

वह कितना पराधीन है। कितना दुःखोंसे भरा हुआ है यह लौकिक सुख, जिसका वर्णन करना हजारों विद्वानोंसे भी कठिन है।

ज्ञानका मुखोद्वर्तन—हे कल्याणार्थी भव्य पुरुष ! आनन्दका उपाय तो सुगम स्वाधीन अत्यन्त निकट है। थोड़ी ज्ञानकी दिशाको बदललें। यह आत्मामें रहता हुआ ज्ञान केवल दिशा ही बदलता है। कहीं आत्मामें से ज्ञान गुण निकलकर बाहरके पदार्थोंमें छुप-छुपकर जाया नहीं करता है। यह ज्ञान शक्ति ज्ञान गुण तो आत्मामें ही रहता हुआ सारा प्रबन्ध बनाता है, तो यह ज्ञान जब बाह्य पदार्थोंकी ओर मुख करता है, (जाता नहीं है, केवल अपना मुख करता है) दिशा बनाता है तो बजाय बाह्य पदार्थोंकी ओर दिशा बनानेके अपने अन्तरकी ओर मुख करलें बस यह तो सर्व संकटोंसे मुक्ति पानेका उपाय है। ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है। ये विषयोंके सुख पापके बीज हैं। भोगते समय ये भले लगें लेकिन इनके भोगनेमें पापका विशेष बंध होता है, पापके कारण भूत है आगामी कालमें कई गुणा दुःख देकरके यह सुख अपनी कसर निकालेगा। सुख और दुःखका इस संसारमें जोड़ा चल रहा है सुखके बाद दुःख आता है, दुःखके बाद सुख आता है अथवा यह कहो कि सुख दुःखको देकर मिटा करता है और दुःख सुखको उत्पन्न करके मिटा करता है। अब आप यह बताएँ कि जो चीज सुख उत्पन्न करे वह आपको पसंद है ? या दुःखको जो उत्पन्न करे वह चीज आपको पसंद है ? छटनी करलो। सुखको जो उत्पन्न करके मिटे उसका नाम है दुःख और दुःखको उत्पन्न करके जो मिटे उसका नाम है सुख। ज्ञानीकी दृष्टिमें सुख और दुःख दोनों एक समान हैं। उसे तो विलक्षण परम शरण हितरूप केवल निज ज्ञायकस्वरूपका अनुभव ही जच रहा है। बाकी और सब चीजें आकुलता रूप हैं। भैया ! विह्वलताके अनुभवके नाम दो पड़ गये हैं सुख और दुःख, जो इन्द्रियोंको सुहा जाय उसका नाम है सुख और जो इन्द्रियोंको न सुहाये उसका नाम है दुःख। सुखमें सु उपसर्ग है और ख नाम है इन्द्रियका और दुःखमें दुर् उपसर्ग है व ख नाम इन्द्रियका है। इन्द्रिय ही मेरा स्वरूप नहीं है तो सुख और दुःख मेरे स्वरूप ही क्या होंगे। ज्ञानीकी दृष्टि में सुख और दुःख दोनों एक समान हैं, क्यों समान है कि उसे तो केवल उसके निज ज्ञान प्रकाशका अनुभव ही रुच रहा है और सर्व सत्य समझमें आरहा है। बड़ी विशुद्ध दृष्टि वालेको सुख और दुःख एक समान हैं। इतना ही नहीं, सुख उत्पन्न होता है पुण्यके उदयसे और दुःख उत्पन्न होता है पापके उदयसे। इस ज्ञानी पुरुषको तो पुण्यका उदय और पापका उदय दोनों एक समान दिख रहे हैं। पुण्यका उदय हो तो क्या है ? यह रूप जो मेरा है वह अचेतन, पुद्गल, अजीव तत्त्वोंका समुदाय है। अथवा पापका उदय हो तो क्या है ? वह भी ऐसी

ही चीज है । यह तो अपने ज्ञान प्रकाशके अनुभवमें ही रुचि रक्खे है । ज्ञानीकी दृष्टिमें तो लौकिक सुख और दुःख सब एक समान है । जैसे जिस बालकका चित्त किसी और जगह है, खेलमें है अथवा अन्य खिलौने आदिमें फसा है और वह न मिले तो उसे राजी करनेके लिये चाहे आप इमरती दें और चाहे भुजे चना दें। दोनोंको झंकोर करके फेंक देगा। मुझे यह न चाहिए। न आपकी इमरती चाहिए न आपके भुजे चना चाहिए। उसे तो अपने मनको प्रसन्न करने वाला खिलौना चाहिए। यों ही जिस ज्ञानी पुरुषको निज ज्ञायकस्वरूप आत्मामें रुचि है वह उसमे ही रमणकर सहज शुद्ध सुगम स्वाधीन आनन्द प्राप्त करता है। ऐसे उस आत्मस्वरूपके रुचिया ज्ञानीको चाहे सुखका साधन मिले चाहे दुःखका साधन मिले दोनोंको झकझोर देता है। मुझे तो यह चाहिए ही नहीं।

पुण्यपापमें शुभाशुभरागमें समानता—जो सुख दुःखमें समान बुद्धि रखता है वह सुख दुःखके कारणभूत कर्मोंके उदयमें भी समान बुद्धि रखता है और इतना ही नहीं, पुण्य पापबन्धके कारणभूत विभावोंमें भी समानबुद्धि रखता है। बन्धका कारणभूत है शुभराग, परोपकार, तप, दान आदिक ये सब शुभराग पुण्यबन्धके कारण है और अशुभराग विषयोंका प्रेम ये सब पाप बन्धके कारण हैं, पर जिसे निज स्वरूपमें अनुराग हुआ है उसे शुभ रागमें भी स्वरूपकी अप्राप्ति विदित होती है। वह तो इन दोनों रागोंको एक समान मानता है। यह चर्चा चल रही है ज्ञानयोगी पुरुषकी। यह दृष्टि जाना चाहिये कि उसके अन्तरमे कितना स्वच्छ परिणाम है, कितना वैराग्यपूर्ण परिणमन है। पापको पाप कहने वाले दुनियामें अनेक मिल जायेंगे पर पुण्यको पाप कहने वाले विरले ज्ञानी ऊँचे अध्यात्मयोगी पुरुष ही मिल सकेंगे।

समता व परमकरुणाका अधिकारी—जिन्हें पुण्य और पाप दोनो ही एक समान विदित होंगे वे केवल एक ज्ञायक स्वरूपकी उपासनामें रत रहते हैं। ऐसी पात्रता वाले पुरुष जब जगतके जीवोंपर ऐसी दृष्टि देते है कि अहो जरासा मुख मोड़ देनेकी बात थी, इतना न कर सकनेके कारण इस जीवकी ऐसी विडम्बना हो रही है। कभी कीड़ा मकोड़ाके शरीरमें बंधता है कभी पशु पक्षीके शरीरमे बँधता है। कितना पराधीन होता है, कितने संकट सहता है, ऐसी जब परम करुणा होती है तो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है, जिसके उदयमें वह विशुद्ध धर्मका नेता होता है।

इन्द्रियसुखमें ज्ञानीके आदरभावका अभाव—ज्ञानी पुरुष विषयोंके सुखमें आदर बुद्धि नहीं करता है। किसी भी समय अपन सबको भी अपने चित्तमें यह बात भरना चाहिए कि मेरा आदर केवल इस ज्ञान स्वरूपमें बनो, इन्द्रिय विषयोंमें झंझटोंमे आदर बुद्धि मत बनो। आप घरशून्य हैं, किसीका भी

कोई घर नहीं है। मान लो आप इस घरमें पैदा न होकर दूसरे गाँवके किसी घरमे पैदा होते तो क्या आपको इस घरकी सुध भी रहती ? पर जिस जीवको अट्टसट्ट जो मिल गया उसीमें वह मोह करने लगता है। आपके स्वरूपमें कोई घर बँधा हुआ है क्या ? लिखा हुआ है क्या कि आपका घर यही है दूसरा है ही नही। पर जहाँ यह पहुँच गया वहाँके ही झमेलेको यह अपना मानता है। इस झमेलेमें ज्ञानी पुरुषकी आदर बुद्धि नही रहती है। ऐसा नि:कांक्ष पुरुष, निष्काम पुरुष अपने आपके हितमें भी प्रवृत्त होता है और परके हितमें भी प्रवृत्त होता है।

स्वहितकारीसे परहितकी संभवता—वास्तवमें तो जो अपना हित कर सकता है वही दूसरोंका हित करनेका कारण बन सक्ता है। जो अपने हितसे दूर है, विषय कषायोंमे लवलीन है, मोहके अंधेरेमें पथभ्रष्ट है ऐसा पुरुष कभी धर्मकी धुनमे आकर लोगोपर अपना कुछ रोब भी जमाये, धर्म करना चाहिए, धर्म करो, धर्म करो लेकिन ऐसे ही जब सब हो गय तो किसने धर्म किया। मानो १००० आदमी बैठे है और प्रत्येक पुरुष यह सोचे कि मैं दूसरेको धर्म में लगा दूँ तो यह धर्मकी ध्वजा फहराती रहेगी, खुदकी कुछ फिकर नही, ऐसा सब ही सोचले कि ९९९ लोगोको धर्ममें लगा दें तो वहाँ एक भी धर्ममें न लगेगा। और उनमें से केवल दस ही लोग सोचले कि मैं किसीका कुछभी उपकार करनेमें समर्थ नहीं हूँ. मैं अपनेको तो धर्ममें लगाऊँ, तो १० तो धर्ममे लगे।

प्रत्येकके धोखेमे सर्वरूपेण धोखा—एकबार राजाने मन्त्रीसे पूछा—यह तो बतावो कि मेरे नगरमें कितने लोग आज्ञाकारी हैं और कितने लोग धोखेबाज है ? तो मन्त्रीने कहा महाराज—सभी आज्ञाकारी हैं और सभी धोखेबाज है। अच्छा मन्त्री, यह तो बतावो कि सभी धोखेबाज कैसे हैं ? तो मन्त्रीने उस समय कुछ न कहा और नगरमे घोषणा करवा दी कि राजा अमुक यज्ञ करेंगे सो उन्हें कई सौ मन दूधकी जरूरत है। राजमहलके आंगनमे एक हौज बना हुआ है सो रातको सभी लोग दूध डाल जावो। सभीने अपने घरमे बैठे-बैठे यह विचार बनाया कि नगरमे १० हजार घर हैं, सब लोग तो दूधका लोटा ले जायेंगे केवल एक अपन ही पानी ले चलें रातको ही तो डालना है, वह तो छिप जायगा। सो सेरभर पानी सभी लेकर गये। सुबह देखा गया तो सारा हौज पानीसे लबालब भरा था। मन्त्रीने कहा—महाराज देखो ऐसे हैं आपके नगरमे धोखेबाज। ऐसे ही सब लोग चाहें कि धर्म तो सभी लोग करते हैं केवल हमी बचे रहेंगे, क्या होगा, धर्म तो खूब चलेगा ही, धर्मकी ध्वजा तो खूब फहरायेगी ही। मगर धर्म न तो ध्वजामें निकलता है न किसी महलमेंसे निकलता हैं यह तो एक साधन है। यह धर्म तो आत्मतत्त्वके श्रद्धान, ज्ञान और आचरणमें है। सो ऐसी धर्म

साधना यदि खुद नहीं कर सकते हैं, प्रत्येक पुरुष धोखा देदे तो धर्मप्रभावनाका तो सर्वोपहारी लोप समझियेगा।

धर्मतीर्थका नेतृत्व—यह दर्शनविशुद्ध ज्ञानी पुरुष इस प्रकार जगतके बाह्य समागमोंसे निष्पृह है और निजस्वरूपकी भावनाके अभ्यासमे दत्तचित्त है। ऐसे ही पुरुष इस महान पुण्य प्रकृतिका बन्ध करते है जिससे वे विश्वको धर्म मार्गके बतानेवाले प्रमुख नेता होते हैं। किसी भी मार्गका नेतृत्व केवल बातोंसे नहीं होता किन्तु पुरुषार्थसे होता है। भिक्षा मांगनेसे यह नेतृत्व नहीं मिलता है। चाहे राष्ट्रीय नेतृत्व हो और चाहे सामाजिक नेतृत्व हो और चाहे प्रभु जैसे धर्मको पानेका तेतृत्व हो, उस जैसा परिणाम हो, उस जैसी भावना हो, स्वच्छ हृदय हो, निष्काम कर्मयोग हो, किसी प्रकारकी अन्तरमें इच्छा नहीं हो, प्रतिक्रियाकी वाञ्छा नहीं हो ऐसा शुद्ध स्वच्छ हृदयवाला पुरुष ही धर्म तीर्थका नेता बनता है।

ज्ञानीका आन्तरिक प्रयत्न—यों यह पुरुष पराधीन, दुःखसे परिपूर्ण विनाशीक, पापोके कारणभूत विषय सुखोंमे आदर बुद्धि नहीं करना चाहता, स्वाधीन शाश्वत रहनेवाले आनन्दकरि ही परिपूर्ण आनन्दका ही कारण निजस्वरूपमें आदर बुद्धि करता है और चाहे प्रयोजनवश किसी बाह्य कार्योंमे अटकना पड़े, पड़ना पड़े, तिसपर भी उसकी प्रीति इन्द्रियसुखसे निवृत्त होकर आत्मीय आनन्द में ज्ञानस्वरूपमे रत रहनेके लिए ही होती है। कितना ही जीवन बिताते चलें जब भी आनन्द मिलेगा तो इस ही उपायसे मिलेगा।

धर्मात्माओंकी सेवामें ज्ञानीका निर्विचिकित्साभाव—तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाला भव्यपुरुष कैसी पात्रता रखता है इस विषयका वर्णन चल रहा है। यह भव्य जीव सर्व भयोंसे रहित, देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धामें निःशंक, सर्व प्रकारके भोगसाधनोंकी वाञ्छासे रहित होता है। धर्म धारण करके तो भोगोंकी वाञ्छा किसी भी ज्ञानीमें होती ही नहीं है और निसर्गतः साधारण रूपसे भी भोगोंकी वाञ्छा नहीं रहती, ऐसा यह अन्तरात्मा पुरुष सर्व साधर्मीजनोको उच्च आदर्श दृष्टिसे देखता है। साधुओंका शरीर रत्नत्रयसे पवित्र है ज्ञानीके ऐसे पुरुषोंकी सेवाकी धुनि रहती है, उनकी उपासनाका चाव रहता है, जैसे माँ, मल, मूत्र, नाक, लार गिराने वाले बच्चेसे भी ग्लानि नहीं करती और सेवामें सावधान रहती है, ऐसे ही ज्ञानी अंतरात्मा पुरुष धर्मी पुरुषोकी सेवामें ग्लानि नहीं करते हैं। रुचिकी बात है, इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है। जब माँ अपने पुत्रका मलमूत्र उठा सकती है और उसे साफ शुद्ध कर सकती है, मनमें ग्लानि नहीं लाती किन्तु कर्तव्य समझती है तो ऐसे ही धर्मात्मा पुरुष भी धर्मात्माजनोंकी सेवाको कर्तव्य समझते हैं।

कर्तव्यपालनमें धर्मिसेवा—जैसे घरका कोई कार्य अटका हो तो उसे खुदको ही तो करना है, दूसरा कौन करने जायगा ऐसा सकल्प और श्रद्धान रहता है, ऐसे ही धर्मात्माजनोंकी सेवा हमारे घरका ही तो कार्य है, वह हमको ही तो करना है, हम उससे क्यो चलित हों ऐसा अपने अन्तरमे मधुर बोध रहता है और इसी कारण उन धर्मात्मा संतजनोंकी सेवामें ग्लानिका अनुभव नहीं होता है ? जो पर जीवोंमें ग्लानिका परिणाम नहीं रखता उसमे ही ऐसी योग्यता है कि तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर सके। भैया ! जो घरकी अच्छी सेवा करनेका चाव रखता है और यत्न करता है वह घरका नेता बन जाता है। जो अपने ग्रामकी सेवा करता है वह ग्रामका नेता बन जाता है। जो समाजकी सेवा करता है वह समाजका नेता बन जाता है, जो सारे विश्वकी सेवाकी लगन रखे वह सारे विश्वका नेता न बने यह कैसे हो सकता है। नायक, स्वामी सेवासे बनता है। अधिकार चलानेसे या घमंड बगरानेसे या अपनी पोजीशनकी धुन रखनेसे कहीं कोई नायक नही बन सकता है। बड़ा बननेके लिये बडी सेवायें और बड़े कष्ट उठाने पड़ते है।

बड़ाके बड़ा बननेकी प्रक्रिया—कवि लोग अलंकारमें यह बतलाते हैं कि कोई बड़ा कैसे बन सकता है बड़ा नाम है उसका जो उड़दकी पिट्ठी करके गोल बना कर कड़ाहीमें बनाया जाता। बड़ा कैसे बनता है ? आदमियोंमें बड़ा कैसे होता है यह पीछे समझना। पहिले उड़दका ही बड़ा बतावो कैसे बनता है ? पहिले तो दाल २४ घन्टे, १२ घन्टे तक पानीमें भिगोकर फुला लेते हैं और फिर रगड़ करके ऊपरकी त्वचा निकाल देते हैं। अब रह गया सफेद। इतनेपर भी नहीं मानते है तो उसको सिलबट्टेपर पीस डालते हैं। कितने उपसर्ग सहनेके बाद बड़ा बनता है यह समझलो। फिर सिलबट्टेपर पिसनेके बाद उसमें मिर्च भुरकते है और इसके बाद फिर उसका आकार बिगाड़ते हैं। गोल मटोल कर देते हैं। फिर उसे तपती हुई कड़ाहीमें डाल देते है। जब पक जाता है इतनेपर भी अभी संतोष नहीं होता है तो लोहेकी पतली छड़को उसके पेटमे घुसकर देखते हैं कि कहीं यह कच्चा तो नहीं रह गया। इतने कष्ट सहनेके बाद उड़दका बड़ा बनता है।

बड़ा बननेका उपाय—यहाँ लोकमें मनुष्य बड़ा बननेके लिए लड़ाई करते हैं, अरे लोकमें बड़ा बनना है तो लौकिक जनोंकी सेवामें लग जावो। लोगोंका सम्मान करो, नम्र रहो, यह वृत्ति अगर बन सकती है तो बड़ा बना जा सकता है। अन्यथा बड़ा बन ही नहीं सकता। तीर्थंकर महापुरुष तीन लोकके नाथ क्यों बन गये ? त्रिलोकीनाथ, जगतके स्वामी सर्वके नेता यों बन गये कि उन्होंने जगतके सब जीवोंकी सेवाका भाव किया था। कोई सेवाका भाव भावनारूप

करता है और उसका किसीके यत्न भी हो जाता है। तो जगतकी सेवा करनेसे जगतका नेता बनता है। जगतकी सेवा वही कर सकता है जिसके ग्लानिका भाव नहीं है। इसे कहते है निर्विचिकित्सा, घृणा न होना, ग्लानि न होना।

विचिकित्सा अथवा ग्लानिका अर्थ— ग्लानिका सही अर्थ घृणा नही है। ग्लानि शब्द ऐसे भावको प्रकट करता है कि घृणा न हो, विह्वलता न हो, ऐसे सारे ऐब न हों ऐसी स्थितिको कहते है ग्लानिका न होना। ग्लानि शब्दका व्यापक अर्थ है, घृणा तो एक अव्यापक अर्थ है। यह भव्य पुरुष धर्मकी सेवा करते हुएमे ग्लानि नहीं करता है, यह भव्य पुरुष किसी भी मनुष्यको देखकर पापी मनुष्योंको भी देखकर उस जीवसे घृणा नही करता है। हां पाप हेय है-सो उसका जानन-हार रहता है। यह भव्य अन्तरात्मा कर्मोदयसे कोई उपसर्ग आ जाय या कोई वेदना आ जाय तो उसमे ग्लानि नहीं करता अर्थात् विह्वलता नहीं करता, हाय अब क्या हो। जैसे कोई अचानक कष्ट आनेपर जी छोड़कर रो देना-कहॉ हॉथ जा रहे है, कहॉ सिर जा रहा है, ऐसी हालतमे फोटो लेलो तो सारी बात विदित हो जायगी। ऐसी विह्वलता क्लेशोंके समयमें ज्ञानी पुरुषके नही हो सकती है। और यदि कोई मल मूत्र आदिक गंदी चीजे भी कही पड़ी हो-तो ज्ञानी पुरुषको उन गंदे मार्गोंके बीचमे होकर भी जाना पड़े तो "हाक थू" ऐसी वृत्ति उसकी नहीं चलती है।

निर्जुगुप्साका परिणाम—जिसके गलेमें थूक उतर आता है कोई खराब चीज देखनेसे तो कुछ कल्पना तो जगी अन्तरमे, तव तो वह रस वन गया थूकका। अब थूकनेसे क्या है; इतनी भी वात अन्तरमे पैदा न हो। भारी थूकना कुछ अच्छी वात नही है, हॉ कोई रोग हो जाय, वेदना हो जाय तो भले ही हो, मगर जो आदत डाल लेते है जरासी बातोमे यह आदत अच्छी नही है। इससे आध्यात्मिक कितनी ही हानियॉ है। तो जो पुरुष धर्मात्मावोंमे अपनी वेदनाओंमें और बाहरी अपवित्र चीजोमे ग्लानि नही रखते है किन्तु यथार्थ तत्त्वके वेत्ता रहते है ऐसे जीवोंकी विश्वके जीवोंपर उनके उद्धारकी जब दृष्टि पहुॅचती है, परम करुणा होती है तो वह तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध करता है, अर्थात् वह आगामी कालमें तीर्थङ्कर भगवान होता है।

तीर्थङ्कर बन्धके पात्र—तीर्थंकर प्रकृतिका बंध सुनकर उसकी चाह करने वाले पुरुषोंको इस प्रकरणसे यह शिक्षा लेना चाहिए कि कहीं मागनेसे बंध नही होता किन्तु अपने आपको निःकांक्ष होकर ऐसा आत्मचरणमें ढाल दीजिए तो अन्तर कारणोंके अनुकूल तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो लेगा। सम्यग्दर्शन निर्मल हो तबभी तीर्थंकर प्रकृति बॅध जाय ऐसा नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन निर्मल होनेके बावजूद भी विश्वहितकारी भावना उस प्रकारकी हो तो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

ज्ञानीकी अमूढदृष्टि—यह निकट भव्य पुरुष प्रत्येक विषयमें अमूढ रहता है। समस्त विश्वका क्या स्वरूप है-६ द्रव्य हैं-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल। व्यवहारमें आने योग्य प्रमुख दो पदार्थ हैं-जीव और पुद्गल ये सब अपने स्वरूपसे हैं परके स्वरूपसे नहीं है। निरन्तर परिणत होते हैं किन्तु अपने आपके प्रदेशोंमें, गुणोंमें ही ये परिणमा करते हैं। किसी भी वस्तुका किसी अन्य वस्तुके साथ कर्तृत्वका कोई नाता नहीं है। सब अनुकूल परनिमित्तको पाकर स्वयंकी शक्तिसे परिणमते चले जाते हैं। ऐसे इस सम्यक् स्वरूपको लिए हुए यह सारा जगत जिनकी दृष्टिमें बना हुआ है उनको ही तो ऐसी पारमार्थिक करुणा उत्पन्न होगी कि ये जगतके जीव ऐसे सुगम स्वाधीन आत्म दृष्टिको पायें और सदाके लिए संकटोंसे दूर हों। ऐसी भावना उसकी ही होती है जिसने अपने आपको सावधान कर लिया है।

कुदेव कुशास्त्र कुगुरुमें आदेयत्वकी श्रद्धाका अभाव— ज्ञानी संत किसी देवत्व स्वरूपसे रहित पुरुषमें देवत्वकी श्रद्धा नहीं करते। देव वही है जो दोषसे रहित हो और गुणोंसे परिपूर्ण हो, चरित्र भी उसकी इसही दिशाकी ओर जाने वाला हो। है उसका ऐसा आचरण, तथापि इस ज्ञानी पुरुषकी दृष्टि तो उस सहज स्वभावकी ओर और सहज स्वभावके अनुकूल विकाशकी ओर रहती है। शास्त्र कहते हैं उसे जो जीवको शासित करे, खोटे मार्गमें बचाया करे, सन्मार्गमें लगाने की वाणी बताये वह है शास्त्र। जो शास्त्र रागकी शिक्षा दे वह शास्त्र नहीं है। ज्ञानी कुशास्त्रमें शास्त्रकी बुद्धि नहीं करता व कुगुरुमें गुरुकी बुद्धि नहीं करता।

ज्ञानीका विवेक—भैया! ज्ञानीका सिर नारियल नहीं है, किन्तु एक मनुष्यका उत्तम अंग है। नारियल हो तो जहाँ चाहे पटक दिया जाय, फोड़ दिया जाय, पर यह नारियल नहीं है। ज्ञानी पुरुषका सिर धर्मके नातेसे वहाँ ही नमता है जहाँ ज्ञायकस्वरूपका कुछ भान दिखता है। चाहे शब्द और अक्षरोंके रूपमें मान हो, चाहे मुद्राके रूपमें मान हो और चाहे उसके विकाशकी स्मृतिके रूपमें ध्यान हो। जिसकी जो धुन है वह उसके पास ही जाता है और उसकी उपासना करता है। धनका अर्थी धनवंतोंके पास जायगा, गुणका अर्थी गुणवतोंके पास जायगा, आनन्दका अर्थी आनन्दमयके पास बैठेगा। किसी पागलके पास कोई बैठ जावे अथवा किसी अज्ञानी दु:खीके पास बैठ जावे तो थोड़ी देरमें वह व्यग्र हो उठेगा। जो जिसका अर्थी है वह उसके निकट पहुँचता है। यह ज्ञानी पुरुष सच्चे देव, शास्त्र और गुरुकी शरणको ही प्राप्त होता है। अन्यकी ओर उसकी उन्मुखता नहीं होती है।

अप्रयोज्यमें ज्ञानीकी अनादेयता—कदाचित् किसी कारण धर्मदृष्टिरहित पुरुषमें कुछ चमत्कार भी आ जाय, कुछ अनोखी बात दिखे जो जन साधारणसे

न किए जायें इतनेपर भी ज्ञानी पुरुपका, कल्याणार्थी संतका उस ओर झुकाव नहीं होता । हो गया हो ऐसा तो क्या । मिस्मरेजम वाले तो बड़ी चमत्कारकी बातें दिखाते है उनके तो कोई पैर भी नहीं छूता । किसी-किसो खेलमे आपने देखा होगा कि मिस्मरेजम वाले आपके सामने सेव लाकर पेश करदें, जो चीज आप माँगें वह दिखादें अथवा कितनेही लोग ऐसा जादू दिखाते हैं कि आपकी टोपी लेकर अपने डिब्बेमे धरकर उससे रुपये टपकाते है, अथवा आपकी कमीज से रुपये टपकाते है, ऐसे-ऐसे खेल दिखाते है, आप लोग भी ऐसे चमत्कारके खेल देख लेते है, लेकिन कभी किसीको उसके पैर छूते हुए देखा है ? क्यो नहीं लोग उनके पैरोंमे लोटते ? यों नहीं लोटते कि लोग उसे अप्रायोजनिक जानते हैं, अपने मतलबकी बात नहीं है ।

ज्ञानीका प्रयोजक तत्त्व—ज्ञानी पुरुषके मतलबकी बात एक स्वरूपकी आराधना है, मूल बात ठोस काम है । ज्ञानी पुरुष ठोस कार्य ही करना चाहता है । ठोस कार्य वह है कि जिससे आत्माका गुणविकाश हो और दोपोंका अभाव हो । ये सारे संकट स्वयमेव दूर हो ऐसा कोई कार्य हो तो वह ही ठोस कार्य कहा जा सकता है । उसके कभी भी यह भावना नहीं जागती किसी धर्महीन पुरुषके चमत्कारोंको देखकर कि मनसे उसकी अनुमोदना जगे अथवा झुकाव जगे । हाँ यह बात उसके प्राकृतिक है कि जिस किसी भी पुरुपमे उसे ज्ञानविकास जगा हुआ दिखे या आत्मज्ञानकी बात मिले, आत्मीयता झलके उस ओर इसकी भावना होती है । ऐसा यह ज्ञानी पुरुप विश्वके उपकारकी भावनासे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है ।

उपगूहन धर्माङ्ग—इस निकट भव्यमे इतनी गम्भीरता है कि उसकी प्रवृत्तिमें वचनवृत्तिमें कोई कार्य ऐसा नहीं होता जिससे दूसरोंका अहित हो, किसी अज्ञानी द्वारा, अशक्त द्वारा, बालक द्वारा कोई धर्मकी अप्रभावनाका भी कार्य होजाय तो उसे वह गुप्त रखता है । गुप्त रखनेके मायने ढाककर छिपाकर रखना नहीं है, किन्तु उस दोषसे धर्ममें दोष न जाहिर हो जाय ऐसा यत्न करना है । वह यत्न यही है कि दूसरे धर्मात्माके दोषोंको प्रकट न होने देना । किन्तु कदाचित् कोई ऐबी धर्मात्माका रूप रखकर सारे आचरण ऐब बगराये तो भी चूँकि हम उपगूहन अंग वाले हैं, दोप ढाकते रहें यह नहीं किया जा सकता है । दोष ढाकनेका उद्देश्य यह है कि लोगोंके चित्तमें धर्मके प्रति श्रद्धा रहे ।

उपगूहनका लक्ष्य—यह धर्म उज्ज्वल है, सत्य है, हितकारी है । अत. छोटा दोष जो दूर किया जा सकता है उसकी प्रसिद्धि करदें तो लोकमें कितने जीवोंका अनर्थ किया उसने, जो धर्मकी ओर कुछ झुकना भी चाहते थे वे यह जानकर कि धर्म तो पूरा ढकोसला ही है, देखो ना कैसी-कैसी पोल धर्ममे भरी हुई हैं, वे

तो छूट जायेंगे। धर्ममें पोल एक भी नहीं होती है। ढकोसला रंच भी नहीं होता है। सबकी रक्षाके लिए दोषोंका उपगूहन किया जाता है, किन्तु कोई ऐब ही प्रकटरूपसे करे तो उसका उपाय यह है कि लोकमें यह घोषित करदो कि यह हमारा साधु है ही नहीं, धर्मकी रक्षा हो जायगी। कोई स्वच्छन्द और उद्दण्ड पुरुष धर्ममें दोष ही लगाये, दोष ढाकनेपर भी न ढक्ता हो तो उसका यह उपाय है कि धर्मकी रक्षा करो और स्पष्ट जाहिर करो कि यह हमारा संत ही नहीं है। यह भी उपगूहनमें प्रक्रिया पड़ी हुई है।

उद्देश्यपूरक विवेक--भैया! हर काममें उद्देश्य बनाना चाहिए। उद्देश्य न जानकर केवल लिखी हुई बातोंका जैसे कहते हैं ना कि लकीरका फकीर बनकर उसीको अपनाता जाय तो सफलता तो नहीं मिलती। एक सेठ था, वह मरनेसे पहिले ही अपनी वहीमें लिखगया कि लड़को लोगो! हमारे मरनेके बाद कोई तुम पर आपत्ति कभी आ जाय तो मन्दिरके शिखरमें धन गड़ा हुआ है उसे माह वदी दशमीको पौने ४ बजे निकाल लेना। वे लड़के गरीब हो गये, सोचा कि पिताजीकी वहीमें ऐसा लिखा हुआ है सो ऐसा ही करें। एक लड़का माह वदी दशमीको लगभग पौने ४ बजे कुदाड़ी लेकर मन्दिरके शिखरपर चढ़ गया और उसे खोदने लगा। कोई सज्जन पुरुष वहांसे निकला और पूछता है कि क्या कररहे हो? तो वह बोलता है कि धन निकाल रहे हैं।' 'वहां कहां धन है।' 'अरे देखो ना, पिताजीकी वहीमें लिखा हुआ है कि जबभी सकट आए तो माह वदी दशमीको पौने ४ बजे सामको खोद लेना। वह पुरुष बोला-अरे नीचे उतर आवो, हम तुम्हें बतावेंगे। देख, यदि धन मन्दिरकी शिखरमें गड़ा होता तो माह वदी १० को पौने ४ बजे सामको ही निकालनेका टाइम क्यों देते। यदि मन्दिरके शिखरमें धन होता तो वह तो किसी भी समय खोदकर निकाला जा सकता है। इस मन्दिरकी छाया जहां पर पड़ी है वहां पर खोदो तो धन निकलेगा सो माहवदी १० को पौने ४ बजे शामको जहां पर इस शिखरकी छाया पड़ रही थी वहां पर खोदा तो सारा धन निकल आया। तो जो शब्द लिखे हुए हैं उनके अनुसार ही अगर लगें तो फिर सफलता नहीं है।

उपगूहन और उपबृंहण--इस धर्मकी रक्षा करो। लोक व्यवहारमें यह बात न आ सके कि यह धर्म तो खोटा है, अहितकारी है, इसमें कुछ लाभ नहीं है, ऐसा कुछ अपवाद न आ सके इसका यत्न करना सो उपगूहन अग है। सो यह सम्यग्दृष्टि भव्य पुरुष जहां तक सीमा नहीं टूटती है, बाढ़ बांधी जानेपर भी बाढ़ नहीं थमती है, बांध नहीं थमता है और फूटकर निकलनेको होता है, जब बांधही टूट जाता है तो वहां प्रकट घोषणा कर दी जाती है।' जैसे किसी देशमें अकाल पड़ जाय तो सरकार अकालग्रस्त स्थानोंकी घोषणा कर देती है। सो सरकारकी

जिम्मेदारी थोड़ी देरको हट गयी किसी मायनेमें। यों अनेक प्रकारोंसे परके दोषोंका उपगूहन करे और अपने गुणोंके बढ़ानेमें यत्नशील रहे। ऐसे भव्य पुरुष जगतके जीवोंके प्रति परमार्थकी भावना करे तो उसके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

स्थितिकरण अङ्गकी वृत्ति—जो विश्वके सर्व प्राणियोंकी परमार्थ सेवाका भाव रखता है वही भव्य आत्मा भविष्यमें विश्वका परमार्थ धर्मनेता होता है। उस तीर्थंकर प्रकृतिके बंधयोग्य मनुष्यकी यह कथा चल रही है। यह निकटभव्य किसी भी कारणसे विचलित होनेवाले प्राणियोंको धर्ममें स्थिर करनेका यत्न रखता है। कोई पुरुष शारीरिक वेदनाके कारण धर्मचलित हो रहा हो, तीव्र ज्वरकी वेदना, तीव्र राजरोगकी वेदना और कहीं गिर पड़ने, अंग टूटजाने आदिके कारण होनेवाली वेदना हो, जिसमें यह धर्मात्मा स्वधर्मसे चलित होनेका भाव रख रहा है, वेदना नहीं सही जाती है अत तप संयमकी ओर ध्यान नहीं रहता है और मारे वेदनाके संक्लेश परिणाम हो रहा है ऐसे रोगग्रस्त पुरुषोंको ज्ञानी प्रिय शब्दोंसे समझाते हैं और जहांतक वश चलता है शक्तिको न छिपाकर उसकी वेदनाको दूर करनेका यत्न रखते हैं।

रोगचलित पुरुषको सम्बोधन—ऐ भव्य आत्मन्! तुमने बहुत धर्मसाधन किया, अब किसी पाप कर्मके उदयका निमित्त पाकर आज यह दशा हो रही है, इसका क्यों खेद करता है तू देखतो सही, तुझसे हजारों गुना रोगग्रस्त पशुपक्षी कितना कष्ट भोग रहे हैं, जहां रागद्वेषकी अधिकता है ऐसे नरकोंकी वेदना तो बड़ी दु:सह होती है। तूने अनेक बार उससे हजारों गुणा दु:ख भोगे हैं, यह क्या दु:ख है एक कल्पनाको शुद्ध बनावो, अपने आपके नीरोग शरीरको निहारो। तू तो एक अमूर्त ज्ञानमात्र तत्त्व है। इस ज्ञायकस्वरूपकी ओर जो प्रवेश करे उसे कहां वेदना है। अपने उपयोगको बदल और शुद्ध स्वरूपकी ओर आ। अपने वचनोंके द्वारा उस वेदनाग्रस्त पुरुषको वह धर्ममें स्थिर करता है। ऐसी साहस भरी वाणी सुनकर वह रोगी भी अपने आपको सम्हाल लेता है। अहो क्या है कहां है वेदना? मैं तो भावात्मक तत्त्व हूँ और यह शरीर जड़ पौद्गलिक है।

[illegible]—यद्यपि इस जीवका शरीरके साथ वर्तमान बंधन है, फिर भी यदि अपने आत्मबलको कमजोर किया जाय तो वेदना बढ़ जाती है और आत्मबलको सम्हालनेकी ओर लगा जाय तो वेदना कम हो जाती है। यह तो आप लोग कभी अनुभवसे भी पहिचान सकेंगे। हो रही है वेदना, किन्तु थोड़ा फिसलकर शरीरकी ओर दृष्टि देकर कुछ वेदनामें उपयोग लगाया तो वह वेदना बढ़ जायगी और जैसेही अपने आपके बलमें सम्हालेंगे—मैं आत्मा रागादिकरहित ज्ञानमात्र सत् पदार्थ हूँ। उस आनन्दघन

निज अंतस्तत्त्वकी ओर मुड़ेंगे, कुछ यत्न करेंगे तो यह वेदना नियमसे कम हो जायगी। जैसेकि किन्हीं बाह्य पदार्थोंमें ममता होनेके कारण बाह्य पदार्थोंका वियोग होनेपर बड़ा क्लेश होता है व उस ओर दृष्टि जानेपर वह क्लेश कई गुणा होजाता है, किन्तु अपने आपको सम्हालनेकी ओर दृष्टि कीजाय तो एक अपूर्व साहस हो जाता है।

सद्विचारसे संक्लेशका दूरीकरण—जैसे लोकमें मारवाड़ियोंके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है, कि कोई मारवाड़ी अपने देशमें चलकर कलकत्ता जैसे बड़े शहरमें पहुंचता है, चला वह डोर लोटा ही लेकर बड़ी कठिन परिस्थितिमें, कुछ न था, दो एक रुपयेही साथ थे, किन्तु अपने बुद्धिबलसे अपने पुण्योदयसे वहाँ धीरे-धीरे ऐसा व्यापार लगा कि वहाँ वह लखपती बन गया। और कदाचित् व्यापार में जैसाकि हुआ करता है, कभी बढ जाता है कभी घट जाता है। यो कदाचित् बड़ा टोटा पड़ जाय तो उस समय वह यह साहस रखता है कि क्या हुआ, हम तो डोर लोटा ही लेकर आये थे, यह तो हाथका मैल था, खतम होगया, चला गया। देखो इतने ही संकल्पसे उसने अपना जीवन बचाया, अपने आपको क्लेशोंसे दूर किया। एक विचारकी ही तो बात है। ज्ञानमें और विचारमें महान् बल है। बल किन्हीं बाह्य पदार्थोंके सयोगसे नहीं आया करता है। बल तो अपने आपकी बात है। अपने आपके चिंतनसे वह बल प्रकट होता है।

ज्ञानीकी उपकारवृत्ति—यह महान् उपकार है ज्ञानी पुरुषका कि वेदनाके कारणसे अथवा अन्य कारणसे जो धर्मसे चलित हो रहा है, उसको वचनोंसे और यथाशक्ति सेवासे स्थिर कर देना। यह किसी आदेय परिणतिसे अन्तरात्मत्व में आ जाता है जिससे वह स्वयं भी प्रसन्न है और दूसरे भी सुखी हो जाते है। कदाचित् कभी दरिद्रता आये, खानेका भी पूरा सेजा नहीं हो, दिनमें एक बारही रूखा सूखा खाकर रहना पड़ता हो ऐसी भी कठिन परिस्थिति आ जाय तो इसमें भी कोई धर्मात्मा धर्मसे चलित हो सकता है। उसके प्रति भी जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं उनका ऐसा व्यवहार होता है कि उनके यथाशक्ति मददगार बनकर उन्हें संतुष्ट करते हैं। और धर्मके चलितपनेको बचा लेते हैं। पूर्व समयमें होता था ऐसा, प्रायः कोई श्रावक बड़ी गुप्त पद्धतिसे उनको भी पता न पड़ सके ऐसी सामग्री भेज देता था कि वे चलित होनेसे बच जाया करते थे। कितनी ही मिसालें हैं। हमसे तो अधिक आप सब लोग जानते होंगे कि कौनसा ऐसा ढङ्ग है जिससे हम अपने पडोसीकी रक्षा कर सकते हैं।

ज्ञानीके अनुदारताका अभाव—जिसे धर्मसे प्रेम है वह धर्मात्माओंमें धनका व्यय करनेसे हिचकिचायेगा नहीं। और यदि केवल परिग्रहमें ही प्रेम है, ममताको ही पकड़ रक्खा है तो उसमें यह बुद्धि न आ सकेगी और वह सोचेगा कि वह तो

गैर है, दूसरा पुरुष है, हमें क्या मतलब है, लेकिन सम्यग्दृष्टि पुरुषके अनुदारता नहीं आती है। वह दरिद्रताके कारण च्युत हो सकने वाले धर्मात्मावोंकी रक्षा करता है।

विपत्तिमें विवेकीका कर्तव्य—जब कठिन प्रसंग आ जाता है तब धर्मात्मा भी वेदनामें शिथिल होकर यह सोच सकता है कि अहो जीवन भर हमने धर्म किया पूजन, सामायिक, सत्संग किया, सेवा किया और फल क्या मिलरहा है, दरिद्रता का इतना सामना करना पड रहा है। यहाँ धर्मसे वह अपनी श्रद्धा शिथिलकर सकता है, पर ज्ञानी संतजन उन्हें यों समझाते है कि रे भव्य! तू एक बाततो सुन-देख तो, एक राजा अपनी सेनापर लाखों खर्चकर रहा है प्रतिवर्ष! किसलिए कर रहा है कि कोई बाहरी शत्रु मेरें राज्यपर आक्रमण न करदे। और कदाचित् कई वर्षोंके बाद कोई शत्रु उसके राज्यपर चढ़ाई करदे और राजा यह सोचने लगे कि मैने सेनापर प्रतिवर्ष लाखों खर्च किया और यह सब खर्च बेकार रहा, देखो, शत्रुने हमला करदिया, इस सेनाको हटावो। यह सेना बिल्कुल बेकार है ऐसा यदि राजा सोचता है तो आपही बतावो कि वह राजा गल्ती कररहा है या बुद्धिमानीका काम कररहा है? गल्ती कररहा है। तब बुद्धिमानीकी बात क्या हुई? बुद्धिमानीकी बात यह है कि उस समय राजा सेनाको बुलाकर उसे साहस दे और जो खर्च करता है उससे दुगुना भी खर्च करदे, हिम्मत बढ़ाये तो देखो जिस उपद्रवसे रक्षित रहनेके लिए अपन लोगोंने इतना धर्ममार्गका श्रम किया, समय विताया, विद्यायें सीखीं। वह अवसर अब सामने आया है, उसका डटकर प्रत्याक्रमण करके मुकाबला करें। यदि ऐसी बात आती है तो विवेकी पुरुषके सुझावको बुद्धिमानीकी बात कहेंगे।

विपत्तिमें धर्मपालनका विशेष कर्तव्य—यों ही देखो हे भव्यपुरुषो! तुमने इस धर्मकी रक्षा की, बहुत कालतक प्रत्येक प्रकारोंसे मेरे संसारके संकट टलें और वास्तविक क्लेश दूर हो इस ही भावसे नही, परमार्थ बुद्धिसे। अब कदाचित् कोई संकट आये है, दरिद्रता आयी है, उपद्रव आये हैं, ऐसे समयमें यदि तू यह सोच रहा है कि यह धर्म व्यर्थ है। मैंने धर्म तो इसलिये किया था कि भगवान मेरी रक्षा करेंगे, मैं संकटोंसे दूर रहूँगा, किन्तु संकट तो आगये। अब इस धर्मको अलग करो यह तो बेकार चीज है। ऐसा यदि सोचता है तो वह जीव मूर्खतापूर्ण चिंतन कररहा है अथवा बुद्धिमानीका चिंतन कररहा है। बुद्धिमानीका चिंतन तो यह है कि मैंने जिस अवसरमें धैर्य पानेके लिए और संकटोंसे दूर रहनेका आत्मबल पानेके लिए इतने वर्ष धर्म किया है उसका अवसर आज आया है। विपदा आयी है, दरिद्रता आयी है, संकट आये हैं, तो उन्हें साहस करना चाहिए अब कि हे धर्म! जागृत होओ, उनका मुकाबला करो।

संकटोंके निर्माणका अन्तरङ्ग साधन— भैया ! संसारमें संकट है ही क्या ? कल्पना किया, लो कष्ट होगया और जहाँ शुद्ध ध्यान बनाया, अपना यथार्थ चिंतन किया, लो कष्ट वहीं बुझ गया । कष्ट बुझानेमें तो एक सेकेण्डकी भी देर नहीं लगती है । चाहे कितने ही कष्ट आये हों उन कष्टोंका विनाश होनेमें एक सेकेण्डका भी समय नहीं लगता । वह कष्ट तो कल्पनासे आया था, यथार्थ चिन्तन करलिया जाय तो वे समस्त कष्ट दूर हो जाते हैं । ज्ञानी पुरुष धर्मसे विचलित होनेवाले धर्मात्माजनोंको सम्बोधते हैं और अपनी शक्ति भर तन मन धनसे वे सहायता करते हैं, चाहे कुछ भी प्रसंग आये, उपद्रव हो, दूसरेके द्वारा सताये जा रहे हों, पर वे किसीको अपना दुश्मन नहीं मानते । यहाँ कोई किसी का दुश्मन नहीं है, ये जो दुश्मन बनालिये गये हैं वे मात्र कल्पनासे ही बना लिये गये हैं । दूसरा कोई न किसीका दुश्मन होता है और न कोई दूसरा किसीका मित्र होता है । वह स्वयं अपने आपकी परिणतिसे परिणमता है । कोई दूसरा किसी दूसरेमें कुछ कर नहीं देता है । यहाँ किसी एकका किसी भी दूसरेसे कुछ सम्बन्ध नहीं है । सम्बन्ध तो मात्र कल्पनासे ही मानलिया गया है । देखो अपनी कल्पनाको सुधारो और सुखी होओ ।

विरोधीके विध्वंसकी भावनाकी प्राकृतिकता—एकबार कोई राजा किसी शत्रुपर आक्रमण करनेके लिए अथवा लड़ाई लड़नेके लिए जारहा था । सेना पीछे थी और राजा आगे निकल गया था । उस राजाको जंगलमें एक मुनि महाराजके दर्शन हुए । तो उपदेश सुननेके लिए और गुरुभक्तिके लिए सेनाको दूर ही थाम लिया और आप स्वयं बैठ गया गुरुभक्तिके लिए । राजाने मुनिमहाराजका उपदेश सुना, पर थोड़ी देर बाद कुछ शत्रुवोंका कोलाहल सुनाई पड़ा । उस कोलाहलको सुनकर सावधान होकर वीरासनसे बैठगया । थोड़ा अधिक कोलाहल के शब्द सुनाई पड़ने लगे तो राजाका हाथ झट म्यानपर पहुँचा, जब कुछ शत्रु दिखने लगे तो म्यानसे तलवार निकाल ली । यह दृश्य देखकर साधु कहता है— राजन् ! यह क्या काम तुम कररहे हो ? तो राजा कहता है महाराज मेरे शत्रु आरहे हैं । जैसे-जैसे वे शत्रु मेरे निकट बढ़ते आरहे हैं वैसेही वैसे मुझे उन पर रोष होरहा है । मैं उनको समूल नष्ट करनेका संकल्प किए हुए हूँ ।

परमार्थविरोधीके विध्वंसकी सराहना—मुनि बोलते हैं राजन् ! तुम बड़ा अच्छा काम कररहे हो । शत्रुको तो समूल नष्ट करना ही चाहिए, मगर देखो एक शत्रु तुम्हारे अन्दर बिल्कुल आचुका है, तुम उसको समूल नष्ट करो । जैसे-जैसे शत्रु निकट आये रोष बढ़ना ही चाहिए और उसे मिटाकर रहना चाहिए । यह नीति तुम्हारी बिल्कुल ठीक है, पर एक शत्रु जो तुम्हारे अन्दर बिल्कुल आ चुका है उसका पहिले नाश करो । राजा बोला—महाराज वह कौनसा शत्रु है जो

मेरे अन्दर बिल्कुल आ चुका है ? साधुने कहा राजन् सुनो–वह शत्रु यही है कि दूसरे जीव जो अपने स्वरूपसे सत् हैं अपने उपादानसे अपनी परिणति करते हैं दूसरेका कुछ नहीं कर पाते ऐसे अन्य जीवोंपर ये मेरे शत्रु हैं ऐसीजो दूसरोंको माननेकी कल्पना उठी हैं यह कल्पना ही तेरा वास्तविक दुश्मन है। इस दुश्मनको तो समूल नष्ट करो। उसके ज्ञान जगा, प्रतिबोध हुआ, वैराग्य जग गया और सर्व आभूषणोंको उतारता हुआ यह सोचकर क्या है संसारमे, कौन शत्रु है, कौन मित्र है, कौन बन्धु है, सर्वजीव एक समान हैं। उन सब अनन्त जीवोंमेंसे दो चार जीवोंको छांट लेना कि यह मेरा है यह बड़ा अंधेरा है, राजा विरक्त होगया। साधुमुद्रासे ध्यानस्थ होगया। अब शत्रु आता है, सेना आती है तो इस राजाको ऐसी शांत मुद्राको देखकर अपना सर झुकादेता है, यह तो प्राकृतिक बात है कि ऐसे साधुके ऊपर कोई तलवार उठा नहीं सकता है। सभी लोग उनके चरणोंमें शीश नवाकर वापिस लौट गये।

धर्मसे अचलित रहनेके लिये विचार—भैया ! उपद्रव क्या है दुनियांमें ? कोई यह सोचते हैं कि मेरा बड़ा अपमान हुआ, इसने मुझे गालियां दे दी, इसने मुझे मर्मभेदी बात कहदी, यह मुझपर रूठा हुआ है, ये मुझे बरबाद करनेपर तुले हुए हैं, ये सब बातें सोचना अज्ञानभरा चिंतन है। अरे कोई मुझपर नहीं रूठा है। कोई मेरा बिगाड़ करनेके लिए कमर नहीं कसे है किन्तु वह अपनी ही योग्यतानुसार अपनी कषायोंका वमन कररहा है, तब फिर मैं क्यो संकट मानूँ, ऐसी बुद्धि आये तो जो धर्मसे चलित होनेवाले थे, अब चलितपना छूटकर धर्ममें स्थिर हो जाते हैं। यह ज्ञानी भव्य फिर धर्मसे चलित होनेवाले दूसरे लोगोंको भी धर्ममें स्थिर करता है और स्वयं भी ऐसे प्रसंगोंमे अपने आपको समझा बुझाकर स्थित कर देता है, ऐसी स्थितिकरणकी पात्रता जिसके सहज चलती है ऐसा योग्य पुरुष विश्वके परम उपकारकी भावनाके बलसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया करता है।

शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिसे धर्मकी साधना—भैया ! मात्र थोड़ा श्रम और पूजन मात्र कर लेनेसे तीर्थंकर प्रकृति बंध नहीं जाती। खैर, आजकल तो बँधनेका प्रसंग भी नहीं रहा। न बँधे तीर्थंकर प्रकृति। तीर्थंकर प्रकृतिसे लाभ ही कौनसा लूट लिया जाता है। आज जितने भी सिद्धलोकमें विराजमान है प्रभु वे चाहे तीर्थंकर हों अथवा साधारण केवली हो, चाहे ऐसे मुनिराज सिद्ध हुए हों, जिनको मुनि अवस्थामें यहाँ कोई नाम लेनेवाला भी न होगा, उनकी कोई चर्चा करने वाला भी कोई न था, किन्तु समताके वे पुञ्ज थे और अपने पुरुषार्थबलसे अष्ट कर्मोंको ध्वस्त करके उन्होंने सिद्धपद पाया अत्र सभीका ज्ञान एक समान है, सभीका आनन्द एक समान है। अन्तर क्या आया ? यह तो होता ही है।

तीर्थङ्करप्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबंध—आपको मालूम होगा कि तीर्थंकर प्रकृति की स्थिति उत्कृष्ट वह सम्यग्दृष्टि बांधता है जो परमोपकारका तो भाव रख रहा है किन्तु तीर्थंकर प्रकृतिके बंधकोंमें से सबमें अधिक जिसके सक्लेश होरहा हो तीव्र सक्लेश हो। किन्तु, तीर्थंकर प्रकृतिकी स्थिति अधिक बनती है ऐसा सुन कर उसका अर्थ यह नहीं लेना कि लटोरो घसोटो जैसी अधिक कषाय हो। तीर्थंङ्कर प्रकृतिका बंध करनेवाले सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषकी बात कही जा रही है। जो अधिक कषायवान होगा वह अधिक स्थिति बाँधेगा उसका अर्थ यह है कि वह इतने दिन और ससारमें रहेगा। ससारमें रुलना तो भला नहीं मालूम होता है, पर यह तो बँध जाता है उसके योग्य दृष्टियोंके होनेसे।

विवेकीकी मूलचाह—भैया! यह तो बतावो कि जैसे कहानेमें कहते हैं कि तुम्हें गुठली गिननेसे काम है कि आम खानेसे काम है? तुम्हें शाश्वत शुद्ध सहज आनन्द पानेका काम है या तिरेसठ शलाका या तीर्थंकर पदवीधारी कहलानेका काम है? यदि तू कुछ कहलाने वाला बननेकी चाह करेगा तो न कहलाने वाला ही बनेगा और न परमार्थका काम बनेगा। यदि तुझे परमार्थका काम चाहिए है तो पदवीधारी कहलाने वाला काम भुसकी तरह लगेगा। क्या कोई किसान यह सोचता है कि अबकी सालमें मुझे इतना भुसा पैदा करनेके लिए इतना गेहूँ बोना है? हमें तो भूसकी ही जरूरत है. और पैदा हो जाय अनाज बाँट दें कि लेजावो सब लोग, हमें तो केवल भूसा ही चाहिए है। ऐसा कोई किसान कभी सोचता है क्या? यदि कोई किसान ऐसा सोचता है तो कोई उसे बुद्धिमान न कहेगा, योंही ससारकी सम्पदा और पदवीधारियोंके आराम की ही जिन्हें चाह है वे उस ही किसानकी तरह हैं जो केवल भूसा ही पैदा करने की चाह करता है। जैसे इस प्रकारका सोचने वाला किसान मूढ़ है योंही ससारकी सम्पदा और पदवियोंके आरामकी चाह करने वाला व्यक्ति मूढ है। लेकिन एक अन्तर फिरभी है कि भुस चाहने वाला किसान भुसके लिए खेती करे तो उसे भुस मिल जायगा, लेकिन लौकिक आरामके लिए इन पदवियोंके पानेके लिए कोई धर्म करेगा तो उसे यह मिलेगा भी नहीं, इतना अन्तर है।

ज्ञानीका दृढ निर्णय—अहो विविक्त शुद्ध आत्मतत्त्वका अनुरागी, अन्य प्रयोजनोंसे शून्य आत्मतत्त्वकी ही धुनि रखने वाला भव्य पुरुष जानता है कि शांति पानेका तो कितना सुगम उपाय है, किन्तु यह उपाय इस जीवसे क्यों नही किया जा रहा है? इतने खेदमयी करुणाके बलपर और-और भी विशिष्ट कारण मिलनेपर यह पुरुष तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है। तीर्थंकर शब्दका अर्थ है जो धर्मके तीर्थको प्रसारित करे उसका नाम है तीर्थंकर। इस प्रकार यह भव्योत्तम आत्मसाधनाका अनुरागी होकर अपने आपमें मग्न होना चाहता है

यहही एक उपाय है शान्त होनेका, सुखी होनेका। यह निर्णय रक्खो कैसीभी परिस्थितियां आये अपने इस निर्णयमे रन्चभी सन्देह मत लावो। दरिद्रता आती है तो आये विपत्तियां आती हैं तो आये, पर जिसे आत्मानुभवका चस्का लगा है वह यह भी जानता है कि जो नामकी विपदायें है, जिनसे कायर जन दूर भगते है उन विपदाओके प्रसगमे तो आत्मानुभवके पानेका ज्यादा अवसर मिलता है इसलिए वे तो उन विपदाओके स्वागतके लिए तैयार है।

विपदाओ का स्वागत—हे प्रिय विपदाओ आओं, तुममें ही वह सामर्थ्य है कि रागकी नीदमे सोये हुयेको, वेहोशको जगा सकती हो। प्यारी विपदाओ आओ और आकर मुझे रागकी नीदसे बारम्बार जगाओ। बार-बार जगानेका अर्थ है कि ऐ विपदाओ ! मेरे ऊपर तुम खूब आओ। आशा-आशामें ही, सम्पदाकी चाहमे ही न शान्ति होती है और न पवित्रता आती है, न धर्मकी प्रीति होती है, इसलिए विपदाओसे क्या घबड़ाना। ये विपदाये आती हैं तो मेरे लाभके लिए ही आती है। ऐ विपदाओ आओ बार-बार आओ, हम तुम्हारा बार-बार स्वागत करेंगे। मैं किसी भी परिस्थितिमे धर्मसे कभी विचलित न होऊं, मैं धर्मको ऐसा पकड़कर रह जाऊं कि मेरे लिए मैं और धर्म एक मेल हो जाऊं। ऐसी स्थिति आये तो इस जीवका कल्याण होता है।

विश्ववत्सलके विश्व नेतृत्व—जो जिस गोष्ठीका नेता है वह उस गोष्ठी से परम वात्सल्य भाव रखता है, अथवा जो जिस गोष्ठीमे परम वात्सल्य रखता है वह उस ही गोष्ठीका नेता स्वयमेव होजाता है। इस संसारकी समस्त जनताकी गोष्ठीमे अथवा विश्वके प्राणियोके समूहमे जिसका यथार्थ वात्सल्य भाव है, जिसका प्रेम है वह पुरुष तीन लोकका अधिपति होजाय, धर्म तीर्थंका नेता होजाय तो यह तो न्याय की ही बात है। वात्सल्य भाव कैसा होता है इसकी समझ सबको है। फर्क इतना है कि उनका वात्सल्य निश्छल है या छल सहित है इतना ही देखना है। वात्सल्य तो सबमे है।

सछल और निश्छल वात्सल्य—कोई पुरुष स्त्रीसे वात्सल्य रखता है कोई पुत्रोसे कोई धन वैभव सम्पदासे वात्सल्य रखता है, तो वात्सल्य किस नाच के साथ, डिग्रीके साथ अथवा लग्नताके साथ हुआ करता है, यह अपना २ सबको विदित है। घरका पुत्र कपूत होजाय तब भी यह बाप उसकी खबर

ले रहा है, उसका अनुराग बनाए रखता है। कोई संकट आजाय तो अन्याय असदाचार यह कुछ न देखकर मात्र एक ही ध्येय रहता है। बच्चा मेरा है इसको तो खुशी करना ही होगा। इसके लिए ही तो हम जिन्दा हैं यों संकल्प बनाये रहते हैं इनसे अधिक वात्सल्यका और क्या उदाहरण हो। स्त्री, कर्कशा हो अपना और भी कुटुम्बका कोई सदस्य कर्कश निष्ठुर हो और फिर भी उसे निभाये रहता है। इससे अधिक वात्सल्यका क्या उदाहरण होगा। बस अन्तर यह आजाता है कि यह वात्सल्य तो छल सहित है, अथवा अपने स्वार्थ सहित है अथवा मेरी पोजीशन लोगोंमें बनी रहे ठीक-ठीक ऐसा परिणाम बनाये हुए हैं और किसीका वात्सल्य निश्छल है, गऊ वत्स की तरह है। धर्मात्मा पुरुषोंका वात्सल्य धर्मात्मा जनोंमें निश्छल गऊ वत्सकी तरह है।

वात्सल्यका रहस्य—वात्सल्य शब्द बना है वत्सलसे। वत्स कहते हैं बछड़ेको, वैसे बच्चेका भी नाम वत्स बोला जाता है पर उसका सीधा अर्थ है बछड़ा। जो वत्सके आधारभूत गऊ वत्सकी तरह प्रेम लावे उसका नाम है वत्सल, और वत्सलमें जो भाव है उसका नाम है वात्सल्य। गायसे बछड़ेको कौन सी आशा है क्या गाय यह आशा रखती है कि मैं बूढ़ी हो जाऊंगी तो यह बछड़ा कहींसे घास अपने मुंहमें दबाकर लायेगा और हमारे मुंहमें धर देगा। कोई भी आशा उस गायको नहीं है किन्तु अपनी ओरसे निश्छल प्रेम वत्समें पहुँचता है गायका। कदाचित बछड़ा नदीमें गिर पड़े तो गाय कुछ नहीं सोचती है। स्वयं उस बछड़ेके मोहमें नदीमें गिर पड़ती है, इतना निश्छल प्रेम होता है गायका बछड़े पर। ऐसा ही निश्छल प्रेम ज्ञानी पुरुषका धर्मात्मा जनों पर होता है। अब अपने आपको भी सोचो कि हम साधर्मी जनों पर कितना वात्सल्य रखते हैं। जैसे पुत्रोंकी याद करके हृदय भर जाता है ऐसे ही पड़ोसी सधर्मी जनोंकी याद करके भी इस तरहका हृदय अथवा वात्सल्य भर जाता है या नहीं? अपने २ वात्सल्यकी परीक्षा करो। इतना ही बहुत है। वात्सल्य न करे तो ईर्ष्या, मात्सर्य, अदेखसका अथवा किसी को बढ़ते हुए निरखकर उसकी उन्नतिकी जड़ काटनेका उपाय बनाना ऐसी भद्दी बातें भी न हों तो भी वह प्रेम कुछ अंशोंमें वात्सल्य का प्रतिनिधि बन सकता है।

धर्मात्माओं की धर्मीजनों मे अद्भुत वत्सलता—वात्सल्य कितना ऊंचा परिणाम है। श्री विष्णुकुमार मुनिका चरित्र देखो—मुनियोंका सबसे

उत्तम वैभव है आत्मस्वरूपकी मग्नता, सहज आनन्दका अनुभव। समय आने पर विष्णुकुमार मुनिने अपने उस स्वानुभवके उस वैभवका भी अनुराग कम करके अकम्पनाचार्य आदिक ७०० मुनियोंकी रक्षाकी। इससे अधिक और वात्सल्य क्या होगा। साधु सन्तोका उत्कृष्ट वैभव है स्वानुभव। अथवा यो कहो कि जैसे कोई गृहस्थ अपनी सारी सम्पत्ति लुटाकर भी दूसरों की रक्षा करे इस मुकाबलेका काम था उन विष्णुकुमार मुनिराजका। जिसको धर्ममे प्रीति होती है उसको धर्मात्माओमे प्रीति अवश्य होती है। धर्मात्मा कहीसे चलते फिरते नही आते है धर्मात्माकी कोई अलगसे काया नही है, जो धर्मात्माजन है वे ही धर्म हैं। अपना धर्म अपना ही आत्मा है। जितनी जिसके निर्मलता जगी हो, जिसकी जितनी दृष्टि विशुद्ध हुई हो वह उतना ही धर्मका पालक है। वह महाभाग धन्य है जिसकी रुचि केवल उस सहज चैतन्य स्वरूपकी आराधनाके लिए हुई है। हालांकि गृहस्थावस्थामे अनेक काम भी करने पडते है पर यह तो अपनी-अपनी देन है, योग्यता है, अपना-अपना उत्पादन है। किसी की रुचि जग जाय और अपने शुद्ध लक्ष्यको ही निरखता रहे तो वह उत्कृष्ट है, श्लाघनीय है।

ज्ञानीका परम वात्सल्य—धर्मविषयक वात्सल्य भावकी योग्यता और प्रवृत्ति रखने वाला अन्तरात्मा पुरुष जब विश्वके प्राणियो पर अपने वात्सल्य का विस्तार करता है तो उसे उनके दुःख मे सहानुभूति होती है, खेद होता है, अहो कितनी सुगम बात सकटो से दूर होने की अपने आपके शान्ति और आनन्द के अनुभव की। बस दिशा भर बदलती है—जित पिट्ठा, तित दिट्ठा, जित दिट्ठा, तितपिट्ठा। इतना ही तो करना है—जहां पीठ है वहां दृष्टि करना है जहां दृष्टि है वहा पीठ करना है, इतना ही मात्र अपने अन्तर मे कार्य करना है जो कि सुगम है, स्वाधीन है, किसी की अपेक्षा की भी आवश्यकता नही है किन्तु कितना मोहका चक्र चल रहा है कि इतना सुगम भी कार्य नही किया जासकता। इन सबमे सद्‌बुद्धि उत्पन्न हो और अपने आपमे अपनी दृष्टि बने।

जीवमात्र पर ज्ञानी की परम करुणा—जैसे कोई बालक कोई गेद का खेल खेल रहे हो और कोई गेद फिक कर बाहर जाकर धीरे-धीरे चलकर नाली के किनारे पर लुढक रही हो तो बाहर खड़ा हुआ बालक अपने चित्तमे ऐसा यत्न करता है जैसा मानो वह उस गेंदको नालीमें गिरनेसे बचा ही रहा हो। बाहर खड़ा है, केवल भीतर ही जिसे कहते है एक दात मीस कर भीतरका

यत्न करता है और हाथको भी थोड़ी चेष्टा कर लेता है पर गेंदका बचना और गिरना उस बालकके हाथकी बात नहीं है, किन्तु वह बालक सरल है। वह अपने अन्तर यत्नको करता है। यों ही समझो कि यह सरल अन्तरात्मा पुरुष है इसके वशकी बात नहीं है कि इस विश्व का उद्धार कर दे। होना होगा जिसका, उद्धार होगा, लेकिन वात्सल्य भाव से भरपूर होगा, सो एक ही साथ भव्य और अभव्यका विचार भी न करके इतना भी अन्तर में पर्दा नहीं डालता है कि ये ससारके भव्य जीव अपने स्वरूपको दृष्टि करलें। ये ज्ञानी संत भव्य शब्दसे भी मोह नही करते, परम वात्सल्यके धारी जीवोमें यह छटनी न करेगा कि ये तिरजायें ये न तिरें, यही पड़े रहे ऐसी छटनी नही होती है। ससारके जीव मात्रके प्रति स्वरूप भक्तिके कारण एक परम करुणा उत्पन्न होती है,-यह करुणा उत्पन्न होती है उस दर्शन विशुद्धके प्रतापसे और उससे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

ज्ञानियोका निवास क्षेत्र—देखो भैया! पक्षियोका पक्षियोंमें ही प्रेम होता है। कौवा-कौवामे ही बैठना पसन्द करते हैं। जिस जातिकी चिड़िया हो वह अपनी गोष्ठीमे ही रहना पसन्द करती है, यह एक प्राकृतिक बात है। किसी पक्षीसे कहो कि अरे पक्षी देख तेरी जातिसे तेरी बिरादरी वाले पक्षियोसे हम मनुष्य लोग तो बहुत अच्छे हैं, समृद्धिशाली भी हैं, हम लोगोंके बीच तुम बैठा करो तो वह पक्षी न बैठेगा। वह पक्षी तो अपनी ही गोष्ठीमें बैठना पसन्द करेगा। यो ही अपने स्वरूपका रुचिया ज्ञानीसन्तको एक चैन मिलती है इस चैतन्यस्वरूपमे ही बैठकर, वह जीवोंको देखता है तो व्यक्तिकी मुख्यतासे नही देखता है, किन्तु उनका जो सहज सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है उस स्वरूपकी मुख्यतासे निरखता है, ऐसा निरखना, ऐसे पंथका गमन यदि प्राप्त हो तो यह ही संसारके संकट दूर होने का उपाय है।

धर्मप्रभावनाकी शक्यता—इस पुरुषकी प्रवृत्ति शिवमयी होती है। उसके पास जो कुछ है मन, वचन, शरीर, धन इन सबका प्रयोग ऐसा किया करता है जिससे धर्मकी प्रभावना होती है। यदि चाहे कि हम इस परम पावन शुद्ध आर्हत शासनकी प्रभावना करें तो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। धनी हो, निर्धन हो, बहुत पढ़ा लिखा हो या कम पढा लिखा हो केवल धर्मकी प्रीति समान चाहिये। प्राभवना हर एक कोई कर सकता है, वचन तो सभीके पास हैं, उसमे धनी और निर्धनका प्रश्न ही नही है, सत्य वचन हों, हित मित प्रिय वचन हो, सबके हृदयको संतुष्ट करने

वाले और क्लेशो को दूर करने वाले वचन बोले जाये। यदि ऐसी प्रवृत्ति हो तो यह भी तो धर्म प्रभावनाका अग है। क्या जनता पर धर्म की यह छाप न पडेगी कि देखो इस दर्शनके मानने वाले कितने सरल और भव्य हुआ करते है।

जैन आशयकी छाप—पूर्व समयमें जैन दर्शनके अनुयायिओंकी इतनी गहरी छाप थी कि उस छापका प्रभाव रहा सहा शेष अब तक भी चला आरहा है। न्यायालयोमें कोई जैन गवाह हो तो गवाह होते ही न्याय कर दिया जाता था। सारी दुनियां समझती है कि यह जैन है झूठ नही बोल सकता। इतिहासमे देखलो कितना योगदान रहा है जैन दर्शनका लोकमे धर्मकी प्रभावनाके लिए और वही परम्परा बहुत कुछ बाधाये आने पर भी अभी थोडी बहुत अवशेष के रूपमें अपने सामने आरही है। कुछ भी बात हो पर जैन दर्शन जिस ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा देता है उस ज्ञान और वैराग्यकी जो अपने चित्तमे धरे उसका नाम जैन है।

जैनतत्वकी व्यापकता—लोकमे कुछ ऐसी प्रसिद्ध होगई है कि जैन कोई जाति होती है, जैन नामकी कोई जाति नही है। जैन शब्दका अर्थ क्या है? जयति इति जिनः। रागादिक शत्रून् जयति इति जिनः। जो रागादिक शत्रुओंको दूर कर देता है क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष, मोह इन विभावो को जीत ले उसको जिन कहते है। वह है भगवान। जो भी रागादिकका विजयी होगा उसका नाम जैन है। नामसे जिन नही, कोई कुल परम्परा से जैन नही। कोई भी महान आत्मा हो जो भी रागद्वेषको जीत ले उसका नाम जिन है। अब कौन सा शब्द ऐसा है कि जैन शब्दको बोला जाय और सर्व व्यापकता जाहिर करे। लोकमे रागद्वेषकी प्रणाली है कोई शब्द सर्व व्यापक भी हो तो भी उसे यह पर्यायव्यामोही जीव संकुचित बना डालेगा। जैन शब्द रागद्वेषको जीतने वाले मे प्रसिद्ध है, व्युत्पन्न है। और उस जिन भगवानके द्वारा कहा गया जो उपदेश है उसे कहते हैं जैन धर्म।

जैनत्वके प्रयोगसे जैनत्व—जैन तो कोई पशुभी हो सकता है, पक्षी भी हो सकता है। किसीभी विरादरीका मनुष्य हो वह हो सकता है और अब तक की इस युग की परम्परा मे तो जैनाचार्योंकी अधिकता ब्राह्मण वर्ग की रही। इतिहासोमे देखलो तीर्थंकर चौवीसों ही क्षत्रिय वंशके हुए। आज कालके

दोषसे इस विशुद्ध धर्म की प्रवृत्ति घटते-घटते कुछ लोगों तक रह गयी है। और कुछ ऐसे सामाजिक अथवा अन्य तरहके कानून जो बन गये हैं अथवा यों कहो कि अपने-अपने स्वार्थके वश होगए हैं, सो अब यह संकुचित होता जारहा है पर जैन धर्म जैन शासन किसी जाति का नहीं है। जो भी ज्ञान वैराग्य से अनुराग करे वह ही जैन है। कहने से नहीं जैन होता है, टीका लगाने से जैन नहीं बनता, किन्तु जो शुद्ध ज्ञान और वैराग्य की दशा है उस तत्त्वको अपने उपयोगमें उतारें और प्रयोगमें लावें वही जैन है।

सदाचरणसे धर्मकी ठोस प्रभावना—क्या जिसके धन नहीं है वह धर्मकी प्रभावना नहीं कर सकता। अपना चरित्र ऐसा उज्ज्वल रखो कि हिंसासे दूर हो कितनी भी आपत्तियां आयें फिरभी दूसरेके अहितकी बात न कहे, असत्य न बोलें, संकट सहलें, कुछ परवाह नहीं कीड़ा मकोड़ा भी जीवित रहते हैं। उदयके अनुसार आजीविका का साधन कुछ न कुछ मिलता ही है, जो मिले वह ही संतोषके योग्य है। पर अपना आचरण पवित्र रहे, चोरीसे दूर हो, कुशीलके पूर्ण त्यागीहों स्वदारा संतोष व्रत के पालक हों, परिग्रहका परिमाण करे। अपने घरका, कुटुम्बका, स्वयका जो कुछ व्यय है वह बहुत सात्त्विक हो। धन आये तो उसे परके उपकारमें लगायें। धन वैभव न आये न सही। तो क्या वे अपने आचरणके द्वारा धर्मकी प्रभावना नहीं कर सकते हैं? दान देने वालोंसे भी अधिक आचरण पवित्र रखने वालेने धर्मकी प्रभावना होती है। जिसके पास वचन है उन वचनोंका ऐसा प्रयोग करें कि धर्मकी प्रभावना हो। जिसके पास शरीर हो (शरीर तो सबके पास है) अपने आचरणसे धर्म प्रभावना करें।

ज्ञानी द्वारा धर्मकी अन्तर्बाह्यप्रभावकता—धर्म प्रभावना परके लिए नहीं किया जाता है, खुदका धर्म खुदमें है, मुख्य बात तो यही है कि अपने लिए अपने धर्मकी प्रभावना करे। अपने मनसे, अपने वचनसे, शरीरसे, धनसे, दान द्वारा, व्रत द्वारा, तपस्यासे, भक्तिसे रत्नत्रय रूप धर्मको हर कोई प्रकट कर सकता है। यह ही है मार्ग प्रभावना। ऐसी जिसकी वृत्ति होती है ऐसा पुरुष विश्वके वात्सल्यसे, अनुरागसे, उनके प्रति उद्धारकी भावनासे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर लेता है। यहां सोलह कारणोंमेंसे प्रथम कारणका वर्णन चल रहा है। उस प्रथम कारणमें यह बताया जारहा है कि जिसका सम्यक्त्व यों निर्दोष और पूर्ण होता है, शुद्ध होता है वह ही पुरुष जीवोंके उद्धार की भावनामें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है।

ज्ञानीके ज्ञानमदका अभाव—तीर्थंकर प्रकृतिका बंधक यह ज्ञानी संत सर्व मदोसे दूर है। जगतमे जीव कभी कुछ ज्ञान पाते है तो ज्ञानका मद उन पर छा जाता है, ओह मैं विशिष्ट ज्ञानवाला हूँ, और कुछ अपनेसे कम ज्ञान वाले लोग दिख भी जाते हैं जिनको देखकर यह ऐसा निर्णय कर लेता है कि सबसे अधिक मैं ज्ञानवान हूँ, किन्तु यथार्थ ज्ञानी आत्मा ऐसा चिंतन करता है कि इस मुझ आत्माका स्वभाव समस्त विश्वका ज्ञान कर लेने का है। ज्ञानका काम जानना है। मेरा स्वरूप ज्ञान है। क्या ज्ञानमे कोई ऐसी सीमा पडी है कि ज्ञान यहां तक जाने इसके आगे न जाने। क्या ज्ञानका ऐसा स्वभाव है जिससे उसमे सीमा पड़ी हो। ज्ञानका काम जानना है। और जानना किसका? जो कुछ सत् है, उसका जानना। जब ज्ञानका काम जानना है तो वह जानता होगा सब कुछका। उसमे सीमा नही पड सकती है ऐसे अतुल ज्ञाननिधानके परिचयीको ज्ञानमद कैसे हो सकता है।

इन्द्रियजज्ञानकी आनन्दबाधकता—कुछ लौकिक पुरुष ऐसा समझते है कि यह आंख जहा तक फैल सकती है वहा तक ही तो आत्मा जान सकता है। जहां तक हमारी इन्द्रिया विस्तृत हो सकती हैं वहा तक ही तो आत्मा जानता है। आगे कहा जानता होगा। किन्तु विचार करो क्या ये इन्द्रियां वास्तव मे जानने मे मदद कर रही है, या बाधा डाल रही हैं? दिखता तो ऐसा है कि ये इन्द्रिया हमारे ज्ञान मे मदद कर रही हैं पर यथार्थ बात यह है कि ये इन्द्रिया हमारे ज्ञान विकाशमे बाधा डाल रही है। जैसे किसी सेठ का मरण हो रहा हो, उसके एक ही बच्चा है छोटा, वह सेठ बाद मे मर गया, अब सरकार ने उस सेठ की सारी जायदाद जब्त करली। उसकी एवज मे वह ५०० रु० महीने खर्चको देती है। जायदाद कई लाखकी है, वह लड़का सरकार के बडे यश गाता है कि सरकार मुझपर बडी दया करती है घर बैठ ५०० रु० महीना भेज देती है वह लडका बड़ा हुआ, कुछ ज्ञान आया—ओह मेरी २५ लाखकी जायदाद सरकारने अपने कब्जे मे कर रखी है और ५०० रुपये देकर हमे संतुष्ट करना चाहती है। अब समझा वह कि ये ५०० रुपये लिए रहना हमारी लाखो की जायदाद मिलने मे बाधक है।

यो ही समझो कि यह अनन्त आनन्द ज्ञानकी निधि इन कर्मों ने जप्त कर ली है। आज यह परमात्माकी तरह अनन्त ज्ञानस्वभावी होकर भी दर-दर भीख मागता फिर रहा है। पर पदार्थोंसे आशा करना यह भीख मागनेसे भी बुरा है, इन सबका कारण ये इन्द्रिय है। इन्द्रियज ज्ञान से

इतनी जो सीमा बंध गयी है हम उस इन्द्रियज ज्ञानमे आसक्त हो गये, सतुष्ट हो गए तो आज यह विडम्बना है कि जगतके भिखारी बन रहे हैं। यह इन्द्रिय ज्ञान अब बतलावो हमारे सत्य आनन्दका साधक है या बाधक ? हालांकि उस सेठ के लडके से भी बहुत गरीब जनता पडी हुई है, ठीक है लेकिन जिसकी निधि जप्त हुई है उसका दृष्टान्त दिया जा रहा है, हालांकि मुझसे भी गए बीते अनन्त जीव पड़े हुए हैं, स्थावर निगोद, त्रस, कीडा मकोड़ा, पशु पक्षी, लेकिन जिसकी आज यह योग्यता है कि उस लूटी हुई निधिके एवजमे इतना ज्ञान विकास उसे मिल रहा है तब मैं यह दावा कर रहा हूं इस कर्म सरकार पर कि तेरे क्षयोपसमको प्राप्त होने वाला जो ज्ञान और आनन्द है वह मुझे न चाहिए।

ज्ञानीके ज्ञानमदनिषेधक विचार—भैया ज्ञानीको ये सब तो बाधक मालूम होरहे है। कहा तो इस जीवका ऐसा अनन्त ज्ञानस्वभाव और कहां अल्प ज्ञान पाकर इतना मद होना ऐसी वृत्ति अज्ञानी पुरुषके होती है। ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान पर रंचभी मद नही करता है। उस केवल ज्ञानके समक्ष यह पाया हुआ कई भाषाओका ज्ञान कितना हो साहित्य छन्दोका ज्ञान, वेद पुराण शास्त्र सिद्धान्तोका ज्ञान यह समुद्रमे एक बूंदके बराबर भी अनुपातका नही है। केवल ज्ञानमे कितनी जाननेकी शक्ति है ? इसके लिए उपाय एक यह ही बताया है कि जगतमे जितने जीव हैं, पुद्गल है, आकाशके अनन्त प्रदेश हैं, कालके अनन्त समय हैं और जो-जो कुछ भी माने गए हैं उनमे कितने ही वर्ग सम्वर्ग करलो, सबके कई गुणा करलो और उस सब केवल ज्ञानकी शक्तिमे से घटादो और फिर जोड़ दो जितना हो उतने केवल ज्ञानका अविभाग प्रतिच्छेद है। इतनी बडी सख्या यहा नही बतायी जा सकती कि सब कुछ भूत, वर्तमान, भावी और अनन्त प्रदेश से भी कितना बड़ा केवल ज्ञान है, यह कहना पडा कि इन सबको उसमें घटावो और फिर जोडो उतना होता है केवल ज्ञान। इतने विशाल ज्ञानका मेरा स्वभाव है। उसके समक्ष यह ज्ञान क्या चीज है।

न कुछपर क्या गर्व ? —भैया केवल ज्ञान से भी और बहुत पहिले के ज्ञान जैसे मन पर्यय ज्ञान, परमावधि ज्ञान, सर्वावधि ज्ञान, यह सब भी केवल ज्ञानके समक्ष ज्ञान कुछ नही है, सूर्य के आगे मामूली छोटे दीपक जैसा भी प्रकाश नही है। फिर साधारण से इस ज्ञान पर क्या इतराते हो ? जो ज्ञान पाया है उस ज्ञानका इतरानेमें उपयोग न करो। गर्वमे उपयोग न करो और

अपने आत्मस्वरूपकी पहुँचमे उपयोग करो। भेद विज्ञानसे अपना हृदय सुवासित करो तो इस उपयोग के प्रतापसे इस ज्ञान कणमें जैसे कि अग्निका एक कण बहुत बड़ी ज्वालाका कारण बन जाता है यों ही हम आपको वर्तमानमे मिला हुआ यह ज्ञान कण उस केवल ज्ञान जैसे महान प्रकाशका कारण बन सकता है। यदि इसका इस प्रकार सदुपयोग न किया जा सका तो फिर यह ज्ञानमद अनेक दुर्गतियों, कुयोनियोमे भटकानेका कारण बन सकता है। यह पाया हुआ ज्ञान कोई गर्व के लायक नही है। घमन्ड करना बिल्कुल व्यर्थ है। कौन पुरुष ऐसा है जिसमे गर्वके लायक कोई कला प्रकट हुई हो। प्रथम तो यदि कोई गर्व करता है तो इस लोककी दृष्टिमे वह तुच्छ गिना जाता है और फिर गर्व करने लायक कुछ मिला भी तो नही है।

जीवलोकमे विद्याकी अपूर्णता—एक नये पढ़े लिखे बी० ए० पास कोई जेन्टिलमैन थे। उनकी उत्तीर्ण होनेके खुशीमे इक्षा हुई कि समुद्रकी शैर करें। वह समुद्रके किनारे पहुँचा, नाविकसे बोला-ऐ नाविक तू मुझे समुद्रकी शैर करा देगा क्या ? हां हा एक रुपया लेगे। हां लो। समुद्रकी शैरके लिए वह नावमे बैठ गया। अब नाव चली जारही है और यह जेन्टिलमैन पूछता है ऐ नाविक तूने कितने दर्जा पास किया है ? तू कितना पढा लिखा है ? नाविक बोला–हुजूर मैं बिल्कुल पढा लिखा नही हूँ। अरे तू ए, बी, सी, डी भी नही जानता ? हा मालिक इतना भी नही जानता। तू अ आ इ ई भी नही जानता ? नही जानता साहब। तेरा बाप जानता है ? वहभी नही जानता। तो वह जेन्टिलमैन ५-७ गालियां देता है–नालायक, बेवकूफ, और और भी। ऐसे ही लोगो ने भारत को गारत कर दिया। वह बेचारा सब गालिया सुनता गया। पढा लिखा तो था नही। जब एक आध मीलके करीब मे नाव पहुँच गयी और समुद्रमे गहरा तूफान उठा, नाव डगमगाने लगी तो नाविक कहता है कि अब नाव बचेगी नही, डूब जायगी। हम तो तैर कर निकल जायेंगे, आपने तैरना सीखा कि नही ?…नही मैंने तो तैरना नही सीखा।… तेरे बापने तैरना सीखा है ?…नही साहब। तब उस नाविक ने भी उतनी ही गालियां उसको सुनाई। नाविक कहता है–नालायक, बेवकूफ और और भी ऐसे ही लोगोने तो भारत को गारत कर दिया। जितने शब्द उसने कहे थे उतने ही शब्द उसने दुहराये।

ज्ञानीके ज्ञानमदका अभाव और विश्वपर परम करुणा—क्या कुछ अक्षर विद्या जानली या कुछ थोड़ा साहित्य जान लिया तो क्या इतने बड़े ज्ञान की

पूर्णता हो गई ? अरे ज्ञान तो एक प्रतिमा है। कोई न पढ़ा लिखा हो उसमें भी इतनी योग्यता है; उसका यह लिख लिया तो क्या, न पढ़ लिख लिया तो क्या, आत्माका जो स्वरूप है उस ज्ञानमें समस्त आज का पाया हुआ ज्ञान क्या मूल्य रखता है। ज्ञानी पुरुषके ज्ञानका मद नहीं रहता। ऐसा मद नहीं यह अन्तःपुरुष जिसके प्राणियोंकी भूलको देख कर कि ऐसा जानना तो स्वभाव है इतना, पर अपने उस सहज ज्ञानपर दृष्टि नहीं जाती। लौकिक ज्ञानकी तृष्णा भी बनाये है इस भूलके कारण संसारके संकटोंको सह रहा है यह जिसका, आत्मविशुद्धि जगे और सबने आपके इस सहज ज्ञान स्वरूपको पहिचाने ऐसी परम करुणा जिस दर्शन विशुद्ध अन्तरात्मा के जगती है उसके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। अर्थात् निकट भविष्यमें वह इस विश्वको सन्मार्गमें लगाने वाला नेता बनता है।

ज्ञानीके पूजामदका अभाव—जैसे यह एक ज्ञान मद बुरी चीज है ऐसे ही एक मद पूजामद भी विडम्बना की चीज है। मेरी बड़ी पूजा होती है, मेरा बड़ा चलता है, इज्जत है, लोग सिर झुकाते हैं, अपने सम्मानका, पूजा का घमण्ड आना यह भी एक विकट अंधेरा है। अरे मूर्ख ! तुझे कोई नहीं पूजता है तू क्या है पहिले यह बता ? यदि कान, आंख, नाक वाला तू है तो इसका सम्मान करने वाला कोई विवेकी नहीं है और यदि तू ज्ञायक स्वरूप है तो ज्ञायक स्वरूप तो सबमें एकरूप है। उस ज्ञायक स्वरूप का सम्मान करने से केवल तेरा ही सम्मान कैसे हुआ। यह तो एक कारण समयसारका सम्मान है। पूजा प्रतिष्ठाका भी मद इस अन्तरात्मा पुरुषमें नहीं होता।

गर्वभरी ऐंठमें विडम्बना—घमण्ड होना बहुत बुरी चीज है। न इस लोकमें घमण्ड से लाभ है, न पर भवमें लाभ है। घमण्डसे कौनसा लाभ है सो बताओ ? घरोंमें प्रायः घमण्डकी वजहसे ही लड़ाइयां चलती हैं। सास समझती होगी कि हम तो सास हैं, माता हैं, हम तो इतनी बड़ी पोजीशनकी हैं और पढ़ी लिखी बहुएं समझती हैं कि यह सास तो अपढ़ है, बेवकूफ है, मैं इतनी पढ़ी लिखी हूँ, तो इसही घमण्डमें सास अपनेमें ऐंठ रही है बहू अपने में ऐंठ रही है। अब सास और बहूमें जब ऐसी बात है तो फिर सद्व्यवहार कैसे हो सकता है ? सभीकी ऐसी ही बात है। तो जितने भी विवाद होते हैं उनमें कारण घमण्ड का प्रमुख है। समाजमें भी जब कोई विसम्वाद खड़ा हो जाता है तो उसमें कारण अभिमानका है नहीं तो बताओ, एक धर्म ही ऐसा है जो कि प्राणियोंका हित करने वाला है। उस धर्म के झण्डे के

नीचे यह सारा जगत है अब वहां विवाद का क्या काम। रही व्यवहारमें धर्मप्रभावनाकी बात सो जो उस धर्मप्रभावनामें आगे बढता है उसकी तो सराहना होनी चाहिए और जो अपने से बने, सहयोग देना चाहिए। किन्तु चाहे व्यापारमें, व्यवहारमे, रिस्तेदारोमे कलहकी बात न उठे पर मंदिरमे, धर्मके मामले में संस्थाके प्रसंगमें चूंकि अभिमान है ना, इसलिए विवाद हो उठता है।

निर्भ्रान्तिचेताकी भावना—यह पूजाका मद एक बहुत विकट अंधेरा है। है तो यह तुच्छ कर्मोंसे लदा संसार भ्रमणका अधिकारी और अपनेको मानता है सबसे ऊपर निर्मल, बताओ इस भ्रम भूलसे बढ़कर और विपदा क्या होगी जीव पर। ज्ञानीपुरुषके पूजाका मद रच नही होता है। वह तो स्वरूप दृष्टि करके विश्वके समस्त जीवोमे एक रस बनकर रहता है। मोहके कारण एकरस बनना बिडम्बना है—और स्वरूप दृष्टि करके एक दृष्टि करना आत्माकी शोभा है, बड़प्पन है। जिसके पूजामदभी नही है और दृष्टिकी दृढताके कारण विश्वके प्राणियोमें सहज स्वरूपका दर्शन करता है, वह सत जगतके भूलपर खेद करता है। अहो—थोडा ही तो सुगम काम है। अपने आपको सहज ज्ञान ज्योतिस्वरूप अनुभव लें, इतना ही काम नही किया जाता और विपत्तियोका पहाड ढोया जा रहा है, ऐसी अपार परम करुणासे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। कौन-कौन से मदकी बात बतायें। जिस मद घमण्डको सामने रखा जाता है निरीक्षणके लिए यही एक बेतुका व्यवहार मालूम होता है।

ज्ञानीका कुलमदके अभावमे प्रतिबोध—एक मद जगतके प्राणियो पर छाया हुआ है कुल का। अच्छे कुलमे पैदा हो गए। और जब शरीर ही तू नही है तो कुल तेरा कैसे। सुयोगसे तेरे आत्म गुणोका विकास बना रहा जिसके कारण तू लोकविजीयी कुलमे उत्पन्न हो गया है किन्तु कुल कुलकी जगह है देह देह की जगह है। और हे आत्मा! तू अपने आत्माके स्थानमे ही है। इस देह और कुल दोनो से तू निर्मल है। तू चाहता है कि मेरे कुलकी प्रसिद्धि हो और इसीलिए पुत्रोकी चाह करता है, इसीलिए और-और भी प्रयोग करता है किन्तु अपनी अन्तर्दृष्टि करके देख कि तेरा कुल वास्तवमे क्या है। तेरा कुल तेरा चैतन्यस्वरूप है जो कुछ तेरे साथ पहिलेसे लगा चला आया है और सदा रहेगा। तू अपने उस चैतन्य कुलको पवित्र करना, यहा की मायामयी दुनियांमें जो असार है, झूठा है, स्वप्नवत् है, वहां कुछ बात पर अपने भाव

बिगाड़े तो यहां की कोई परिस्थिति तुझे आगे मदद कर देगी क्या ? तू क्यों बहा जा रहा है कुलके अभिमानमें ।

कुलमदके त्याग—इस कुलका यदि अभिमान रहेगा तो निकट समयमें ही तू निंद्य कुलमें उत्पन्न हो जायगा । अरे जरा नम्रतामें रहो । बड़-बड़ाकर न नाचो । घमण्डमें तू मत बह । कर्मोंके बोझसे तू लदा, विषय कषायोंके रोगी, ऐबोंसे भरा अपने पर बोझा लादे है तू और ऊपरसे ऐसी शान बगरा रहा है इस लोकमें कि इनमें सबसे उत्तम मेरी ही बात है, ऐसा दीन दुःखी है तो तू और अभिमान करके अपना दुःख और लम्बा किए जा रहा है । कुछ तो तरस खा अपने आप पर, कुछ तो अपने आप पर दया कर, अपने संकटोंको तू दूर कर । अभिमान से संकट घटते नहीं है इस लोकमें अभिमानी की कहां इज्जत रहती है ।

कुलमद न करनेका अनुरोध—भले ही कुछ पुण्य प्रतापके कारण कोई इस समय दो चार बातें मान लेते हो, कुछ कह देते हो, किन्तु हृदय तो यही गवाह देता है कि इस जैसा बेवकूफ कौन होगा । अपने मुंह अपना बड़प्पन चाह रहा है और मुख से बड़प्पन जानने की बात तो दूर जाने दो, अंतरंगमें भी तू इन मायामयी मूर्तियोंसे इन मानव कीटोंसे तू प्रशंसाकी रंचभी चाह मत कर । रंचभी मद मत कर । तू ने यदि आत्मधर्मको न सम्हाला तो मानव होकर कीट की ही तरह है । जैसे खेतों पर किसी जगह गिजाई एक के ऊपर एक भिड़-भिड़ कर बिलबिलाती रहती हैं ऐसे ही इस विश्वके चौहट्टे पर मानव रूपी गिजाई एक के ऊपर एक बिलबिला रहे हैं । ज्ञानी मजा देखता है, इस अज्ञानी पर खेद प्रकट करता है । हे आत्मन् ! इस मदसे रहित अपने आपको देखो और अपने आप पर करुणा करो ।

ज्ञानीके जातिमदनिषेधका चिन्तन—तीर्थंकर प्रकृतिका बंधक पुरुष अपनी जातिका अभिमान नही करता है । मैं उच्च जातिका हूं ऐसा विचार तब होता है जब किसीको यह नीची जातिका है ऐसा ध्यानमे रक्खा जाय, क्योंकि नीच और ऊंच अपेक्षा कृत शब्द है । स्वय तो यह न नीच है न ऊंच है। जो है सो ही है। ज्ञानी का यह चिंतन है कि हे आत्मन् ! जो तुम्हारी यह उच्च जाति भी है वह तुम्हारा स्वभाव नही है। सब कर्मोंकी परिणतियां है । चाहे कोई नीच गोत्रमे उत्पन्न हुआ हो चाहे कोई उच्च गोत्रमे उत्पन्न हुआ हो वे सब कर्मोदयकृत परिणतिया है और विनाशीक हैं । किसीकी जाति किसीका यह शरीर क्या सदा काल रहता है ? कर्मोंके उदयानुसार

है। इस उच्च जातिका क्या अभिमान करते हो ? जो तुम्हारी वस्तु ही नही उस वस्तुका अभिमान करना यह तो एक अचेरा है, सन्मार्गसे च्युत होने के ख्याल हैं।

यथार्थ अन्तस्तत्त्वके देखनेका यत्न—जरा इन्द्रियों को सयत करें, आंखोको बन्द करे, मनकी चिन्ता भी कम करे और अपने आपके आत्माको स्वरूप देखें तो विज्ञात होगा कि यह तो निर्लेप है, आकाशवत् शुद्ध अमूर्त एक चैतन्यतत्त्व है, यह क्या उच्च है ? नही। क्या नीच है ? नही। यह तो चैतन्यस्वरूप मात्र है। यह आत्मद्रव्य समस्त द्रव्यो मे सारभूत है। यह कथन भी जव वहुत दृष्टि फंलती है तब हुआ करता है। केवल स्वरूप मे क्या सारपना क्या असारपना। सिद्ध भगवान सर्वोच्च आदर्श है, ठीक है। तुम्हारी कल्याणकी चाह है ना ? कल्याणकी उत्सुकतामे कल्याणमय सिद्ध प्रभुको तुम्हे आदर्श और उत्कृष्ट देखना है।

पदार्थकी अवक्तव्य यथार्थता—वस्तुमे तो सिद्ध भी अपने आप जो है सो ही है। जैसा परमाणु तैसा सिद्ध है। कौन सी उत्कृष्टता हुई ? परमाणु भी एक पदार्थ है और वह सिद्ध भी एक पदार्थ है, सिद्धका अर्थ है केवल, खालिस, वही मात्र है। पदार्थ हुआ करता है केवल। उत्कृष्टता किस वात की है सिद्धमे ? द्रव्यके स्वरूपकी ओर से देखो तो सब अपने-अपनेमे उत्कृष्ट है। किन्तु हम विचार करने वाले है चेतन और साथ ही यह है कल्याणकी भावना, इस नाते से हम औरो के गुण न गाकर सिद्ध परमात्माके गुण गाते है। पर जगतके नाते, लोकके नाते जैसा अणु जैसा धर्म द्रव्य, जैसा आकाश द्रव्य वैसा ही सिद्ध भगवान है। तो पदार्थ अपने आपमे स्वय न उच्च है न नीच है। यह तो भावना से भेद है।

जातियोकी असारता—जिस कुलमे तू उत्पन्न हुआ जिस जातिमे तू उत्पन्न हुआ है वह जाति बिनाशीक है, तेरा स्वरूप नही है, और फिर देख—जातिका अभिमान करनेसे निज ब्रह्मस्वरूपके अवलोकनका अवकाश नही रहता है। जब पाप कर्मका बंध होता है, उसके उदयमें निकट भविष्यमे ही तू नीची जातियोमे उत्पन्न होगा फिर तेरी क्या शान रही। अथवा अनादि कालसे अब तक अनेकवार अनेक जातियां वनी। ये जातिया है चौरासी लाख। जैसे मनुष्यकी जातिया है १४ लाख, और ऐसेही एकेन्द्रियमें एक-एक जैसे पृथ्वी है, जल आदिक है इनकी है सात-सात लाख जातिया। ऐसी ही सबकी

त्रिविध जातिया हैं। अब बतलाओ कैसी-कैसी जातियोमें यह जीव उत्पन्न हुआ। सुयोगवश यदि कुछ उत्तम जाति मिल गयी तो भी क्या हुआ। यह तो तेरा स्वरूप ही नही है। इसके छोडनेसे हो तुम्हारा पार पडेगा। जातिसे चिपटे रहने से तो कुछ पार नही पडता है। अध्यात्मके नाते इस आत्मतत्त्वकी दृष्टि करें, यह कोई जाति नही है यह तो एक चैतन्यस्वभाव है।

कुल और जातिका ब्योरा—कुल और जातिमे यह अन्तर है कि पितृ पक्षको तो कुल कहते हैं और मातृपक्षको जाति कहते हैं। यह जोव अनेकवार चान्डालिनियो, म्लेच्छिनियो, आदि नीच गोत्रोमें जन्म ले चुका है, नटनियो, वेश्याओं, ढोमरियोके अनेक गर्भो मे जन्म ले चुका है यो मनुष्योमे भी नाना जातियोमे उत्पन्न हो चुका है, पशु पक्षियोमे सूकरीमे, गधी में, कौवकीमें अनेक प्रकारकी नीची जातियोमे उत्पन्न हो चुका है, वार-वार अनन्ते नीचे जन्म मिले, अब एक वार तू मनुष्य पर्यायमे आया, उच्च जातिमे आया तो इसका अभिमान कर रहा है, अरे ऐसी-ऐसी जातियां भी अनन्त वार पा चुका है पर साथ कुछ नही रहा। अभिमान कर रहा है तो नीची जातियो में तुझे जन्म लेना पडेगा।

निष्पक्ष अनुभवका यत्न—अरे किसी प्रयत्नसे कल्याणकी कुछ रुचि तो हो, क्यो जाति, मजहब, धर्म आदि पक्षोके कारण अपने निर्णयको गलत बनाये जा रहे हो। अपने आपमें यह निर्णय बनावो कि हमे कौन सा धर्म मानना चाहिए। तो कौन सी देशना स्वीकार करनी चाहिये। तो निष्पक्ष सीधा एक उपाय है कि वह जिस जातिमे उत्पन्न हुआ है उस जातिको भी भुला दो, जिस मजहबमे उत्पन्न हुए हो उस मजहबको भुला दो। किसी की वात न मानो, जिस परम्पराकी बात सुनते आए हो उसकी भी वात न मानो और साथ ही मे समस्त विश्वके पदार्थ चूंकि भिन्न हैं असार है इनमे किसी पर में उपयोग न दो। ऐसे अपने हृदय कमलको ऐसे अपने ज्ञानासनको विविक्त, स्वच्छ खुला रक्खो तो उस उपयोगमें स्वयमेव यह आत्मतत्व क्या है, वह सब ज्ञान प्रकाश झलकमे आजायगा और उस स्थितिमे स्वाभाविक आनन्द उत्पन्न होगा, उससे फिर यह निर्णय कर लो कि ओह शातिका मार्ग यह है।

शान्तिमार्गकी परख—मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसा अपने आपको निर्णय रखना बस यही शातिका मार्ग है। इस आत्म तत्त्वके ज्ञाता द्रष्टा रहना शातिका मार्ग है। राग, द्वेष, मोह से पृथक् होना यह धर्म है। धर्मका उद्देश्य एक है—

रागद्वेष दूर हों और हम अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करके समस्त संकटोंसे नवृत्ति हो और स्वाभाविक अनन्त आनन्द पायें। यह बात जैसे मिले वैसा करना सो धर्म है। बिल्कुल साफ बात है। इसमें पक्षकी अथवा कोई लपेट की रंच बात नही है। तुम आत्मा हो, तुम्हे आनन्द पाना है तो आनन्द पाने की विधि क्या है? इसका निर्णय करलो। आनन्द पानेकी विधि है किसी भी पर पदार्थको उपयोगमे न लें और परम विश्रामसे संकल्प विकल्प छोड़ कर बैठ जाये वहा जो स्वयमेव ध्यान बनेगा, यत्न विना, जान बूझ कर की जाने वाली चेष्टाके बिना स्वयमेव जो कुछ अतरंगमे उद्योत होगा–हे आत्मन्! वह तुम्हारा धर्म है।

अपने आत्मगुरुसे समाधान—इस मनुष्य लोकमे इतने मनुष्योको निरखकर इतने सम्प्रदायोको देखकर अब तू किस एक मे जायगा? और तू इन दृश्यमान किसी भी एकमे मत जा। देख तू आत्मा है अरे आत्माके नातेसे अंतरगमे तू आत्माका ही विशुद्ध कार्य कर। इसमे किसीका क्या लेनदेन है? किसका सम्प्रदाय है, किसका मजहब है, किसकी जाति है, किसका कुल है, इस आत्माके नाते से सब कुछ निर्णय रक्खूंगा और आत्माके नाते ही अपना ध्यान वढाऊंगा ऐसा निर्णय तो करलो और इस ही का उद्यम करो। यही है वास्तविक करने योग्य कार्य, जो आत्मधर्म है और आत्माको शांति पहुँचाने वाला है।

निरपेक्ष स्वयमे धोकेका अभाव—फिर आप यह बोलेंगे कि ठीक है, यहा चित्तमे जमती है। बात तो सही है कि सर्व सम्प्रदायोको छोडो सर्व देशणायो को त्यागो, सबकी बातको भूलो। भले ही उनमे कोई एक सच है पर जहां भ्रम होगया, विकल्प होगया, कुछ भूट है कुछ सच है, तो सबको छोड दो। फिर भी मनमे यह आती है कि भूठको तो छोड़ दे। क्या सबको भी छोड दे? समाधान-से कुछ परवाह नही, दुनियावी निगाहसे निरखे गए सचको भी छोड दे, पर भीतरमे जो परमार्थ सत्य है, स्वय निज स्वरूप है उस स्वरूपकी डोर पकड़े रहे। यहां तो कोई धोखा नही आता। हम अपने आप से चिगकर जहा बाहर में मायामयी सम्पदावोसे सम्बन्ध जोड़ते हैं, उनके वचन व्यवहारमे हम अपनेको लगाते हैं वहां धोखेका डर है, पर अपने आपके अन्दर धोखेका क्या डर है? जब अपने आपमे किसी पक्षका ग्रहण किया हो। किसी समुदाय जाति शरीर किसीको भी न लपेटा हो तो अपने आपका यथार्थ निर्णय बनेगा।

परमार्थ यज्ञ—कभी आप कह उठेंगे कि यह तो बडा कठिन लग रहा है। कुछ जाना भी है, कुछ झलकभी पायी है फिरभी उस तत्त्वमे जमना कठिन लग रहा है। रह ही नही पाते। अब क्या करें तो अपनी बुद्धिसे सोचें। अपने मनसे ऐसा काम करें, वचनसे ऐसा बोलें, कायसे ऐसी चेष्टा करें कि अभी जो उतनी परख है अपने की विविक्त अवलोकनमे उसमे बाधा न चले ऐसी मन वचन कायकी चेष्टा करें। ज्ञानी संत करता है ऐसा। जब अपने आपके अंतस्तत्वमें नही रम पाते है तो वे मन वचन काय की चेष्टा उसके योग्य करते हैं कि जिससे इस ब्रह्मस्वरूपके अनुभवके विपरीत दिशामे न चले जायें वे। तब क्या उनकी चेष्टा होगी। अपने आपमें उस अनुभवीने यह निरखा था कि यह मैं केवल ज्ञाता द्रष्टा मात्र हूँ, रागद्वेष मोह इसका स्वरूप नही है। ऐसा यदि कभी बने तो क्या स्थिति उसकी होगी ? इस परमार्थ यज्ञके फलमे वह दोषोसे रहित हो जायगा। और गुणोसे परिपूर्ण हो जायगा।

देव एव गुरुकी उपासनाकी अनिवार्यता—अब निगाह रखो उन पर जो दोषोंसे सर्वथा रहित हैं और गुणोसे सर्वथा परिपूर्ण है, ऐसा कोई ज्ञाता द्रष्टा सहजानन्दमय जो कुछ भी हो वह हमारा आदर्श है। इसका ही नाम हुआ देव। अब इसको ही कोई मजहब बनाने लगे, पक्ष कहने लगे तो उसका इलाज ही क्या है ? अन्तरमें निरखा था इस अनुभवी पुरुषने कि यह मैं आत्मतत्त्व आरम्भ परिग्रहसे रहित केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, और ऐसा जो पूर्ण निर्मलहो चुके हैं वे हमे मिलते नही। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा हमे मिलते नही, समय ही ऐसा है। तब ऐसी स्थितिमे जो लग रहे हों उन सत जनोके, साधुओके, गुरुवो के समीप जाव, उनके सत्संगमे रहो, उनकी उपासना करो।

उपास्य गुरु और शास्त्रकी परख—अब एक समस्या और सुलझाइए--कैसे जानेंगे आप कि मेरी उपासनाके योग्य मेरा गुरु यह है। इसका तो बहुत सीधा उपाय है। हमे क्या बनना है ? ज्ञाता द्रष्टा। रागद्वेष मोह रहित, शाश्वत आनन्दके अनुभवी। तो ऐसी साधना जिनसे मिले उन्हे समझलो कि। उनकी बाहरी पहिचान यह होगी कि आरम्भसे विरक्त होंगे, ज्ञान ध्यान तपस्यामे ही जिनका जीवन गुजर रहा हो, एक कार्य परमात्मा और कारण परमात्मा हो, कभी प्रयोजनवश कुछ व्यवहार भी बोलें स्पर्श झलकता हो, उन्हें समझो कि ये मेरे

उपासनीय गुरु हैं, उनकी उपासना करो। और ऐसा ही बनने की जो दिशा बताये, उपदेश दे, वाणी भरी हो ऐसे वे शास्त्र उपासनीय हैं।

जातिमदकी कल्याणबाधकता—सीधा मार्ग है जो अपने को ज्ञाता द्रष्टा बनानेकी स्थितिमें सहायक हो उनकी श्रद्धा करो यह काम दूसरा होगा। इससे भी उत्कृष्ट प्रथम काम है शुद्ध निज अनन्ततत्त्वकी अभेदोपासना। इन सब बातोंमें बाधा डालने वाला यह जातिमद है, निज अन्तस्तत्त्वका शुद्ध प्रकाश कितना बडा वैभव है, जौहर है, उपादेय तत्त्व है, पर एक जाति के मदसे इन सब कल्पनाओंके ओटपायोंसे चौपट कर दिया है। उच्च जाति के भी हो तो क्या हुआ। और यहां भी यह सोचना चाहिए कि यह जाति मेरी बंधन है। इस जातिमें भी जो मैं बधा पड़ा हूँ यह भी एक त्रुटि है। मुझे तो इससे भी प्रतीत होना है। ज्ञानी पुरुषके जातिका मद नहीं होता है जो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाले हैं जो समस्त विश्वके जीवों पर परम उपकारकी भावना रखते हैं उनकी कैसी योग्यता है इस विषयका यह वर्णन चल रहा है।

ज्ञानीके बलमदका अभाव—ज्ञानी पुरुष शरीर बलसे विशिष्ट भी हों तो भी उनके बलका मद नहीं होता है। शरीरका बल बलका विकार है, आत्मा का बल अनन्त बल है। यह बल यदि ढक गया और शरीर बलके रूपमें कुछ-कुछ प्रकट हो रहा है, यह विकार है, इस बलका क्या गर्व करना। यह बल क्या चीज है। यहा के दो चार दुबले फोकस लोगोंके मुकाबलेमें कुछ बल हो गया तो क्या होगया, सर्वोत्कृष्ट बल तो नहीं कहलाया और जिसमे सर्वोत्कृष्ट बल है उनके तो अभिमान ही नही होता।

सर्वोत्कृष्ट देहबलका अधिकारी—सबसे अधिक बल बताया है, तीर्थंकर देवकी अगुलीमें। देखो १०, २० बकरोमें जितना बल है उतना बल शायद एक गधामे होगा। १० – ५ गधोमे जितना बल है उतना बल एक घोड़ेमें होता होगा। १०–५ घोड़ोंमे जितना बल है उतना बल एक भैसामें होता होगा। १०–५ भैसोमें जितना बल है इतना बल एक हाथीमें होता होगा, १०–५ हाथियोमे जितना बल है उतना बल एक कोट सुभटबल वाले मनुष्य में होता होगा. और अनेक कोटि सुभटोमें जितना बल है उतना बल एक नारायणमे होता होगा, ऐसे ही अनेक नारायणोंमें जितना बल है उतना बल एक चक्रवर्तिमें होता है। अनेक चक्रवर्तियोमें जितना बल है उतना बल एक देवमें होता है, जितना बल ऐसे अनेक देवोंमें होता है उतना बल

एक इन्द्रमें होता है और जितना बल अनेक इन्द्रोमे होता है उतना बल तीर्थंकरकी अगुलीमे होता है।

देहबलका क्या गर्व—पुरानी बात है एक समय जब सभा भरी हुई थी नेमिनाथ स्वामीके समयमें और वहा कुछ पुरुषोको गर्व आने लगा था, जो कुछ ज्ञानकी बातें कर रहे थे तब एक विवेकीने यह ही कहा था कि कोई भी सुभट नेमिनाथ स्वामीकी अगुलीको टेढ़ी कर दे। तो हैरान हो गए बडे २ सुभट, पसीनेसे लथपथ हो गए थे पर एक अंगुलीको टेढी नही कर सके। तो यह थोड़ा सा बल क्या बल है। अपने उस अनन्त बलको तो देखो, जिस बलके विस्मरणमें यह देहका बल मिला है, ज्ञानी पुरुषको देहके बलका अभिमान नही होता है। और देहही जब मैं नही हूँ तो यह बल मेरा कहांसे है। और फिर शरीरका बल शरीरकी जगह, है, उस बलसे आत्माको बल और शांति नही मिलती है। भले ही ध्यान देनेकी दृष्टियोंमें सहायक हो फिर भी ज्ञाता द्रष्टा रहना, धीर गम्भीर रहना, पर परिणतियोंके कारण विचलित न होना ऐसा अचलितपना ही आत्माका बल कहलाता है। ज्ञानी अन्तरात्मावोके देहके बलका मद नहीं होता। बल्कि देहके सम्बन्धसे कुछ भी विभाव आये, यह मेरा है, कैसा अच्छा है, कितना बल है ऐसा चिंतन यदि आये तो उन्हे लाज आती है। मैं क्या सोचने लगा हूँ। मैं तो देहसे पृथक् ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ। ऐसे अन्तस्तत्त्व की भावना रखने वाले जब विश्वके जीवों पर परम करुणाका भाव लाते है तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

उपादेय बल—प्रशंसा योग्य बल तो वह है जिस बलके द्वारा कर्म वैरी दबा दिया जाय। जीवके वैरी है ६—काम, क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह। यह जीव इन ६ शत्रुवोके हमले के कारण कायर दुर्मत बन रहा है। इन शत्रुवोंको जो बल नत कर सके वही बल प्रशसाके योग्य है। इस शरीरके बलका अभिमान अज्ञानीके ही होता है। और शरीरका भी बल है क्या। आत्मामे जो बल है उस बलका एक औपचारिक विकृत रूप है। सदा अपने आत्मीय बलकी भावना करना चाहिए। जिस बलके विकासके प्रसाद से यह आत्मतत्त्व निर्दोष आनन्दमय हो जाता है। ज्ञानी पुरुष देहके बलका अभिमान नही करता है और आत्मबल का आदर करके अपने को उस आत्मबलमें विभोर करके तृप्त हुआ करता है। यह देह का बल, जवानीका बल, ऐश्वर्य, कला, प्रतिष्ठाका बल अनेक अज्ञानी जीवोको पीटने वाला होता है।

अनर्थकारी बल—इस देहके बलके कारण कितने ही अनर्थ सम्भव है। विरले ही भव्य जीवोकी दृष्टि ऐसी जगती है कि वह देहके बलको जवानी के बलको परोपकारमें लगाता है, यह लौकिक जीव ऐसा उद्दण्ड होता है कि इस बलका उपयोग पापोंके लिए करता है। अनाथोको पीडा देनेके लिए, दूसरोका धन हडप लेने के लिए ईर्ष्याके वश दूसरेके जमे हुए कामको बिगाड देने के लिए अथवा दुराचारोमे प्रवृत्ति करने के लिए होता है। किसी कविने कहा है यौवनं धनसपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्। जवानी, धन सम्पदा, प्रभुत्व चला, प्रतिष्ठा और अज्ञान, उन चारो बातोमेमे एक भी बात हो तो वह आत्माकी बरबादीके लिए होता है। और किसी ससारी सुभटमे ये चारो ही ब तें इकट्ठी हो जायें तो फिर अनर्थका कौन वर्णन कर सकता है, अगर कोई मूढ अपने बलका दुरुपयोग करे तो उसका परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। नरक गतिमे उत्पन्न होकर असख्यात काल प्रमाण दुःख भोगता है। पशु तिर्यञ्चोमे जन्म ले तो मारना, ताडना, लदना अनेक प्रकारके दुःख सहने पडते है। भूख, प्यास, ठडी, गरमी आदिके दुःख सहने पडते है और फिर एकेन्द्रिय आदिक जीवोमे जन्म ले लिया तो फिर दु.खो का ठिकाना ही नही रहा कौन सा बल पाया जाय जिसका अहंकार रखा जाय। विवेकी योगी संत शुद्ध ज्ञायकस्वरूप निज अतस्तत्त्वका ध्यान किया करते हैं।

ज्ञानीके ऋद्धि कलामद का अभाव—यहां लोकमें जीवोको अपनी कला पर भी अभिमान हो जाता है। किसीको कोई कला आती है-चित्र बनाने की कला, संगीतकी कला, धन कमानेकी कला, मकान आदि बनाने की कला, लेखन कला ये जितनी भी कलाये हैं उन पर अहंकार हो जाता है लेकिन एक तो कुछ कला पायी भी नही है और जो कुछ मिल गई तो यह एक ज्ञानका छोटा सा विकाश है। इस अल्प विकाशको देखकर अपने महत्त्वका स्मरण करना चाहिए। भला केवल ज्ञानकी कलाके समक्ष कोई भी कला ऐसी है जो इस ज्ञानका करोडवा हिस्सा भी मुकाबला कर सके, अन्य कलाका क्या करना है। जो जैसा है वैसा जान लिया जाय, इससे अधिक और क्या चाहिए। यहा कला पर जीवोको अभिमान है तो बडे पुरुषोको या कुछ साधु जनोको ऋद्धियो पर अभिमान हो सकता है। कोई विलक्षण कला होती है और कोई साधारण कला हुआ करती है। ज्ञानी पुरुषको ऋद्धि पर कला पर अभिमान नही होता है। ये समस्त कुज्ञान है इनका फल दुर्गतिमें उत्पन्न होना है। कितने ही लोग तो अपनी नाक आंख पर अभिमान करके इतराते है। यो कहो कि वे अपने कुज्ञान पर अपना अभिमान

करते हैं। देखो हममे वह सामर्थ्य है कि हम साचेको झूठा सिद्ध करदें, झूठको सांचा सिद्ध करदें, कलक रहितको कलक सहित साबित करद, सरल शुद्ध पुरुषोको कहो जैसा चाहे दण्ड दिलादें। हम जीवोको कहो धर्मसे छुड़ाकर अधर्ममें पटकदें अथवा धर्मके बानामें ऐसा छका दें, कितनी ही तरह की कलावोका इन जीवोको अभिमान होता है।

प्रभुको धोखादेहीकी कला—एक मदिरमें जहा कि शामको आरती होती थी उस आरतीके प्रोग्राममे एक देहाती भी पहुँच गया। वह एक गाडी तिली बेचनेके लिए लाया था, बेच न सका, रात्रि हो गयी, तो उसने सोचा कि आज मदिरमें सत्संग करें। आरती हो रही थी। लोग घी बोल रहे थे—एक मन घी लिख लो, कोई कहे हमारा ५ मन घी लिख लो। वह देहाती पुरुष इन बातोंको सुनकर बडा प्रभावित हुआ। सोचा कि ये लोग तो बडे दानी हैं। ऐसे ही रोज-रोज घी का दान देते हैं। वहाँ तो एक मन घीका अर्थ था एक रुपया, ५ मन घीका अर्थ था ५ रुपया, पर इस बातका उस देहाती पुरुषको पता न था। वह प्रभावित होकर बोला कि लिख लो हमारी एक गाढ़ी तिली। जब आरतीका प्रोग्राम पूरा हो गया तो पचोसे कहा कि भाई हमारी गाडी भर तिली रक्खी है मदिरके दरवाजे लगा दी है वह ले लो। हमनें आरतीमे बोल दी थी। तो लोग कहते हैं कि तुम देहाती मालूम होते हो, बेवकूफसे लगते हो। क्यो तुमने गाडी भर तिलो बोल दी? उसने कहा कि हमनें तो बोल दिया था इसलिए देते है। उन्होने कहा कि यहा मदिरमें इस तरह की बोली नही होती। एक मन घीका अर्थ है एक रुपया, इसी तरह १० मन घीका अर्थ है १० रुपया। वह देहाती बोला कि अब तो हम बोल चुके हैं--लेलो। तो वह गाडी भर तिली वहा डाल ही गया।

धर्मके विरूपकोको प्रायोगिक उत्तर—अब उसने सोचा कि इन भक्तोको कुछ इनाम भी देना चाहिए। ये रोज-रोज बहुत बोली बोलते है। सो उसने दूसरे दिन मदिरमें जाकर कहा कि पच लोगो! कल आप सब लोगोका चूल्हे पानका न्योता है। चूल्हे पानसे मतलब नौकर चाकर रिस्तेदार घरके लोग जो भी घरमें हो सबका न्योता है, चूल्हा अपने घर न जलाना। उसने वहा जाकर क्या किया कि एक मैदानमें बासकी चटाईकी बाड चारो ओर गाड दी और भीतर कुछ गीली लकडी जलवा दी। खूब धुवा उठा। लोगोने, जाना कि खूब पूडियां बन रही है। वहा जब सब लोग पहुँचे तो उन्हें बैठाकर एक-एक पातल डरा दी और कहा कि अब आप लोग जीमिए।

पर भोजन वहां क्या था। वहा तो सूखी पातल परोस दी थी, सो लोग बोले कि क्या भोजन करें, परोसा तो कुछ भी नही है। तो वह देहाती हाथ जोडकर बोला पचो मेरा निमन्त्रण स्वीकार करो। जैसी आप लोगोकी आरती है वैसा ही हमारा निमन्त्रण है। सो आप लोग स्वीकार करो। जैसे आप लोग झूठ लिखाते थे कि हमारा २ मन घी लिखो, हमारा १० मन घी लिखो ऐसा ही हमारा यह निमन्त्रण है। सब लोग अपना-अपना मुंह लेकर चले गए, दूसरे का नही।

धोखामे स्वयको धोखा—तो भैया! किसीको छकानेकी धोखा देनेकी एक नई भाषा बना लेने को, इन कलावोपर क्या गर्व करते हो? ये बातें तो स्वयको गर्तमें पटकने वाली है। धोखा देने वाला जानता है कि मै दूसरोंको धोखा देता हूँ पर वह स्वयं को ही धोखेमें, दुर्गतिमें डालता है। इसमें धोखा खाने वालेका टोटा नहीं पडता, क्या होगा, ज्यादासे ज्यादा १०–५ रुपयें घाटेमे आ जायेंगे, किन्तु धोखा देने वाला इतने तीव्र पापो का बध करता है कि उसके भाग्यमे तो फिर दरिद्रता ही नजर आयगी। किसी बातका अभिमान करना। ये कला ये ऋद्धियां ये सिद्धिया आत्म वैभवके सामने न कुछ चीजें हैं। ज्ञानी पुरुष अनेक कलावो से अनेक ऋद्धियोसे सम्पन्न होकर भी किसी भी ऋद्धि पर किसी भी सिद्ध पर अहकार नही करता है। ऐसे ही सरल सत्य पुरुष विश्वके जीवो पर परम करुणाभाव करनेके फलमें तीर्थंकर प्रकृतिका बध करता है। और कला तो वह है जिस कलाके द्वारा अपने आत्माको विषय कषायोंको विपत्तिसे हटा लिया जाय और लोगोको अहिंसामयी धर्ममें लगा दिया जाय। यही वास्तविक परम कला है, अन्य कलायें तो सब असार है, झूठ हैं अहित हैं।

ज्ञानीके तपमदका अभाव—ज्ञानी पुरुष तपका भी मद नही करता। किन्ही अज्ञानियोको ऐसी प्रकृति रहती है कि धर्मका, सयमका, व्रतका, तपका थोड़ा भी काम करें तो उनको दिखावाका रूप देता है। और किसके लिये शान बगराते हो। कौन तुम्हारा सहाय है। धर्म तो चुपके करनेका काम है, गुप्त ही करनेका काम है। अपने आपके प्रेममें उसे गुप्त रूपसे ही पाना यही तो वास्तविक धर्म पालन है। जो दूसरे जीवो को अपने बारेमे कुछ प्रदर्शित कर देना चाहते हैं वे का मोही पुरुष हैं। तुम्हारा यहा कौन शरण है? जिसको तुम अपनी कला बताना चाहते हो। और अपनी कला अपने पास रक्खो और झूठी कलावो का दमन करदो अपनी वास्तविक कला को प्रकट करके अपने जीवनको सफल करो। कलावोमें सार कला वही

है तपस्यामें सारभूत तप, जिस तपके प्रतापसे भव-भवके संचित कर्मभी निष्फल कर दिए जायें। अज्ञानीका तप तो वैसे ही निष्फल है।

तपके मदसे हानि और तपोमद दूर करनेका अनुरोध—जो तपस्याका मद करता है वह ऐसे मूर्ख दानी की तरह है कि अपने धनका दान करदे और बार-बार उस कामका बहुत-बहुत प्रसाधन करे, सबको जताये, लिखवाये, बुलवाये। कोई न पूछे ज्यादा तो अपने आप कहकर याद कराता जाय, अपने गुण जताता जाय, कि मैंने दान दिया। उस परिणाम से वह धनसे भी लुटा और परिणामसे भी लुटा। ऐसे ही उस तपस्यामें शरीरसे भी लुटा और परिणामोसे भी लुटा, जहा तप करके उस तपकी प्रशसा चाही जाय या अपने मुंहसे तपकी प्रशसा करवाने का यत्न किया जाय। ज्ञानी पुरुषको तपमे मद नही होता है, वह तो अपने अतुल वैभवको निरखता है, ऐसा आत्मानुभवी पुरुष क्या तुच्छ बात मे घमण्ड करेगा ? जो तपमे मद करने वाला है वही घमण्ड करेगा। मैं बडा तपस्वी हूँ, मैं अनेक उपवास कर डालता हूँ २० दिनके १० दिनके उपवास करता हूँ। घमण्ड करने वालेके बुद्धि कहां रहती है। किसीभी कषायमे पडा हुआ हो कोई हो उसकी बुद्धि आधी क्या चौथाई रह जाती है और जो निर्विकार है, निष्कलक है उसकी बुद्धि जवान रहती है। अज्ञान सहित तप होगा तो वह दुर्गतिका ही कारण बनेगा। सो हे कल्याणार्थी यथार्थ स्वरूपको जानकर फिर तपस्या करिए।

ज्ञानीके देहमदका अभाव—इस शरीरके साथ जीवका ससारी अवस्थामे बडा निकट सम्बन्ध है। हम आप किसी दूसरेसे व्यवहार करते है तो मुकाबलेमे, सामनेमे, यह शरीर हो तो आता है। इस देहका भी अभिमान इस ज्ञानी जावमे नही होता है। किस पर अभिमान हो। और हो भी कुछ तो भी उस पर अभिमान करनेसे पापोका ही बध होता है। देह स्वरूप है, सुभग है, लोकमे प्रिय है। मैं इसके कारण पुण्यवान जचता हूँ ऐसा किसी भी प्रकार इस शरीरका गर्व किया तो उसके फलमे बहुत नीच शरीर मिलेगा। शरीरको आभूषणोसे खूब सजाना शरीरका घमण्ड नही है त और क्या है। मोटे तगडे होना, स्त्री हो चाहे पुरुष हो अपने अङ्गको सजाना शरीरका घमण्ड ही तो है। चाहे हड्डी मात्र शेष रह गयी हो, गाल वैठ गये हो, मु हसे लार बहती हो, कैसी ही शरीरकी निर्बल अवस्था हो फिरभी उस शरीरको सजाना यह जो परिणाम है वह देहमे आत्मबु द्धिका ही तो परिचायक है। इस कुज्ञानसे मोही बन इस शरीर को ही अपना सर्वस्व मान

लेते है। शरीर स्वरूप हो और कैसा ही मनोहारी हो फिर भी उसका मद ज्ञानी पुरुषके नही होता है। वह तो देहसे रहित अपने आत्माका अनुभव करता है ऐसे ज्ञानी पुरुषके विश्वपर करुणाका भाव होने पर तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है।

सहजानन्दप्रिय ज्ञानियोकी करुणा—जो ज्ञानी पुरुष पचेन्द्रियके विषयोसे उपेक्षा लेकर ज्ञानमात्र निज स्वभावके आलम्बनमें प्रयत्नशील होते हैं उनका जो आनन्द परिणाम होता है उसके अनुभवके पश्चात् संसारके समस्त कार्योमे मन नही लगता। आत्माश्रित आनन्द एक सत्य आनन्द होता है और वैषयिक आनन्द छलपूर्ण जिसका परिणाम कटुक हो ऐसा विपत्ति ग्रस्त होता है। ऐसा अनुभव करने वाले योगी ज्ञानी पुरुष जब संसारके प्राणियों पर दृष्टि देते हैं कि कितना सुगम स्वाधीन तो है आनन्दका उपाय और यह नही किया जा रहा है इनसे ऐसे ही विचारक संत तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाले होते है।

ज्ञानधनकी उत्कृष्टता—आत्माका हित आनन्दमें है और आनन्द वही आनन्द है जहां आकुलता रंच नहीं है। आकुलताका सर्वथा अभाव समस्त पर और परभावोके संसर्गसे मुक्त होने मे है। पर और परभावोसे छुटकारा नही पा सकता है। जिसने अपने और पराये पदार्थका स्वरूप भली भांति समझा हो, स्व परका स्वरूप यथार्थ निश्चित किया हो, वही समझ सकता है जिसके स्व परके लक्षणोका यथार्थ निर्णय रखा हो। यह बात बनती है ज्ञान द्वारा। इसलिए सब हितोका मूल उपाय ज्ञानार्जन है। जरा मुकाबला तो करो धनके अर्जनका और ज्ञानके अर्जनका। धन मरने पर साथ नही जाता किन्तु ज्ञानका सस्कार मरने पर भी साथ जाता है। हम यहा कितने ही विद्यार्थियोंको ऐसा देखते है कि एक या दो वार ही कोई चीज पढ लेते है तो उन्हे याद हो जाता है, कितने ही बालक बहुत रटते हैं, पिटते है श्रवण करते है तिस पर भी याद नही होता है। यह फर्क कहांसे आ गया ? गुरु तो सब शिष्योंको एक साथ समानतासे समझा रहा है लेकिन किसीको एक बार मे ही याद होजाता है किसीको अनेक बारमे भी नही याद होता है। यह फर्क है ज्ञानावरणके क्षयोपसमका अर्थात् ज्ञानके सस्कारोंका। जीवका स्वरूप ज्ञान है इसलिए जितना ज्ञान विकाश अभी कर लिया जायगा वह संस्कारके रूपमें अगले भवमें भी जायगा, किन्तु धनकी एक दमडी भी साथ न जायगी।

वैषयिक आस्थाकी आनन्दबाधकता—आनन्दकी बात देखो-अब जरा ज्ञान और धर्म की दृष्टिमें जो यथार्थ आनन्द होता है उस आनन्दका मुकावला वैषयिक सुख नही कर सकता। धनके अर्जनमें पराधीनता बहुत है, ग्राहकसे बात बैठे न बैठे, वातावरण ठीक हो न हो, कितनी ही मिन्नतें करनी पड़ती, विपरीत उपाय करने पडते, और ज्ञानार्जन के लिए हालाकि हम उल्टा चल रहे हैं इसलिए ज्ञानार्जनका भी कुछ श्रम करना पड़ता है यदि हम कुछ उल्टा न चलते होते तो ज्ञानार्जनका व आनन्द लाभका श्रम करने की जरूरत न थी। हम श्रम करके ज्ञानमें और आनन्दसे उल्टा-उल्टा चल रहे हैं। ज्ञानतो भरा ही है, यह ज्ञान स्वाधीन है। इसमें किसी भी कालमें दुःखो का अवकाश नही है इसलिए सर्व प्रकारसे हित रूप है, कितनाभी धनका अर्जन, परिवारका मनके अनुकूल समागम कर लिया जाय तिस पर भी शांति प्राप्त नही हो सकती।

अपने आपसे बातचीत करनेका महत्त्व—भैया! अब तक हम आपने दूसरो से बहुत बातें की किन्तु स्वय अपने आपसे बातें न की। मैं भी स्वयं अपने आप क्या हूँ, इस ओर तो दृष्टि ही नहीं दी। खुद है और खुदके अस्तित्वका भी कुछ ख्याल नही किया नस्य पदार्थोंसे ही हमने अपना सग किया, बात चीत की। बडे-बड़े राजा महाराजा पुरुष बडी विभूतिका परित्याग करके सर्व आरम्भ परिग्रहोको छोडकर निर्जन स्थानमें गए, वे क्या किया करते जिससे उनको उस निर्जन स्थानमे भी ऊब नही आती थी? यहा तो कोई थे अकेला रह जाय चार घण्टेको भी, तो ऊब जाता है, कहते हैं कि मेरे से कोई बात करने वाला भी नही मिल रहा है, क्या करें और उन निर्जन स्थानोंमे वे राजा महाराजा निष्परिग्रही होकर क्या करते हैं कि उनके ऊब नही आती और आनन्द आता है। उस निर्जन स्थानको छोड़नेमे उन्हें कष्ट है, समागमके बीच आने में उन्हे विषाद है। वह आनन्द है उनका अपने आपसे बात करनेका। अपने आपसे मनुष्य तब बात कर सकता है जब कुछ ज्ञानकी बात की जाती है। पापकी बात अपने आपसे कोई नही पूछ कर करता है पर पापसे छूटते हुए, विवेकमें लगते हुए ज्ञानको साधनाका यत्न हो तो खुद अनुभव कर रहे होंगे आप कि अपने आपसे बात कर ली जाती है, और अपना प्रभु गवाह देता है तो उस कार्यमे फिर यत्नशील हो जाता है। अपने आपसे बात करनेको अवकाश नहीं पाया इस जगतके प्राणियोने इसी कारण इस ससारमे भटक रहे हैं।

अपनी बातचीतके महत्त्वका शकुनशास्त्रके एक निर्णयसे मिलान—कभी देखा होगा कि अपना चेहरा दर्पणमे देखनेसे पाप कामोके लिए तो ख्याल भी न आयगा और अच्छे कामके लिए उत्साह ही जगेगा। इसी कारण सकुन शास्त्रमे यह बताया है कि तुम जगनेके बाद दर्पणमे अपना चेहरा देखो। स्वयके बिम्बका दर्शन स्मृति दिलाता है कि तुम्हे क्या करना है, किसलिए जीवित हो। बहुतसी बाते अपने आपसे कहली जाती है, क्योकि वहा अपने आपको चेहरा अपने आपको दिख रहा है। तो जब इस जड चेहरेको देखने पर भी तुम्हारे पाप कार्योसे निवृत्तिका यत्न होता है। तो कोई अपने आपके सहज ज्ञानानन्दघन स्वरूपका दर्शन करले तो उसके पापके लिए ख्याल जगही नही सकता है। अपने आपसे बात तब होती है जब कोई अच्छा अभिप्राय बन रहा हो। पापकी बात अपनेसे नही की जाती है किन्तु अन्धाधुन्ध पापके कार्य कर लिए जाते हैं।

प्रभुका अपूर्व मिलन—हमने न तो कभी अपने आपमे बातकी और न प्रभुसे बात की। वास्तवमे प्रभुसे बात करना तब बन सकता है जब स्वच्छ चित्त हो। प्रभुका स्वरूप क्या है ?· रागद्वेष रहित केवल ज्ञान प्रकाशमय स्वरूप है, उसकी ओर दृष्टि जाय तो अपने आपका भी ख्याल आये, और यदि वह ख्याल इस रूपमे आए कि मैंने बहुत पाप कियां। कहां तो मेरा स्वरूप प्रभुकी तरह है और कहा व्यर्थके कार्योमें प्रवृत्ति हुई है तो वहां आंसू झरने लगते है। वहा विवाद होता है कि ओह बहुत दिनोमे अपने प्रभुसे मिलन हुआ है, वहां से रोकर भेंट करली जाती है। किसी लड़की की मा बहुत दिनोमे मिली हो तो रोकर भेट किया जाता है ना, कधेमे कंधा मिलाकर। कोई-कोई तो उस रोने को सुनकर भय खा जाते है। क्या होगया। जब बहुत कालके बिछुडे हुए, अनादिकाल से बिछुड़े हुए अपने प्रभुसे भेट होजाय या परमात्म प्रभुसे भेंट होजाय तो यह सहसा पहिली बार तो रोकर ही भेंट करता है। बहुत मिलन हो जाने के बाद फिर भली प्रकार मिलता रहता है, किन्तु प्राक् पदवियोमे तो रोकर ही आनन्द होता है। उस रोनेमे हर्ष भरा है, आनन्द भरा है, सुमति भरी है, अपने आपके कुकृत्योमे पश्चाताप तब ही हो सकता है जब निर्दोष आत्मतत्त्व अथवा परमात्मतत्त्वसे भेंट हुई हो। दोषी निर्दोषीसे मिलने पर अपने दोषो की शुद्धि कर सकता है।

व्यामोहमे परका आकर्षण—अहो व्यामोहमे यहां कितना बड़ा अपराध

किया जा रहा है। यहांके लोगों की जो वस्तु अपनी नहीं है उसमे ऐसी श्रद्धा लगाये हैं कि यह तो मेरा सर्वस्व है, यह कम अपराध नहीं है। भले ही मोही मोहियो मे नाता होने के कारण अपने परिवार धन वैभवसे अपनी शरण सर्वस्व मानकर उसकी व्यवस्था करके अपनेको बुद्धिमान समझ रहे हों लेकिन वास्तव में अणु मात्रको भी अपना मानने पर महान् अन्धकार होता है। समयसारमें लिखा है कि परमाणु मात्रभी परमार्थमें जिसका राग लग रहा हो वह चाहे वडे अधिक आगमको भी पढा हुआ हो, शास्त्र ज्ञानी हो तब भी वह आत्माको तो जानता नही है।

राग और रागके रागमें अन्तर—राग होनेमें उतनी बुराई नही है जितनी कि रागके राग होनेमे बुराई है। वस्तु सुहा गयी ठीक है, उस समय का एक परिणमन है, पर वस्तु सुहा जाय ऐसी स्थितिको हम भला मानें, ऐसी स्थितिको बनाए रहनेका प्रयत्न करें यह विवेककी बात है? जैसे रोगी को दवाई करनी पड़ती है, दवाईसे प्रेम भी है, समय पर दवाई न मिले तो वह दूसरो पर झुंझलाता भी है, उसका दवाईमें राग है पर दवाईके रागमे भी राग होजाय अर्थात् ऐसी दवाई मुझे सदाकाल मिलती रहे ऐसा भाव बन जाय तो इसमें बुराई है।

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके निर्णयपर एक लोक दृष्टान्त—मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिमें कितना अन्तर होता है, इसके प्रतिरोधके लिए एक दृष्टान्त लो। कुत्ता कितना उपकारी जानवर होता है, आप सब जानते होंगे। रोटी के दो टुकडे डाल दो तो वह कुत्ता पूंछ हिलाकर आपका सम्मान करता हुआ, अपनेको कृतज्ञ मानता हुआ, आपको सेवामे रहेगा। रात दिन आपके दरवाजेपर रहेगा। चोर बदमाश कोई आये तो उनका मुकाबला करेगा, आपकी रक्षा करेगा। खिलाया कितना क्या? न कुछ। एक दो रोटीके टुकड़े दे दिए, और उसने काम कितना किया? बहुत अधिक आप सब जानते होंगे। और सिंहको देखो, जो अजायब घरोंमे कठघरोंमे बन्द भी रहा करते हैं। उन सिंहोंके पास आप जायेंगे तो डर लगता है, कही ऐसा न हो कि लोहेकी सरिया तोडकर निकल आए और प्राण ले ले। आप उसके पास खडे होनेमे दहसत खाते हैं, और कदाचित दहाड दे तो आप अपना स्थान छोड देते हैं, कही सामने सिंह दिख जाय तो धोती तो ढीली
इतना भयकर जानवर है सिंह।
हो हो जाती होगी। इतना भयकर जानवर है सिंह।

अब आगे देखिये, कभी जरा प्रशंसा कोई करे कि अमुक साहबका क्या

कहना है, अमुक लाल, अमुक प्रसादका क्या कहना है, ये तो बडे उपकारी हैं किसीका कुछ खर्च नही कराते। ये तो दुनियांका उपकार करते है ये तो कुत्तेके समान है। प्रशंसा कर रहा है, कुत्ता बडा उपकारी जीव है, दो रोटी के टुकड़ोंमे ही रात दिन आपका कितना उपकार करता है, तो उस कुत्तेकी ही तो उपमा दी। (हसी) हसते क्यो हो ? शायद कुछ बुरा लग रहा होगा कि यह तो अयोग्य बात कही जा रही है। और यह कह दिया जाय कि भाई अमुक साहब तो शेरके समान है। अर्थ तो उसका यह है कि जैसे शेर अनुपकारी है, खूंख्वार है, जान लेने वाला है, हत्या करने वाला है, ऐसे ही ये महाशय है, अर्थ तो उसका यह निकलता है पर उसको सुनकर बडे खुश हो जाते है कि मुझे शेर की तरह कहा है। भला बतलाओ तो यह कितना बडा अन्तर हो गया है। इस अन्तरमे कोई कुछ मानता है कोई कुछ, पर जो कारण हम समझते है वह बतायें ? यह फर्क हुआ है कि कुत्ता तो अविवेकी है एक मामलेमें। उसको लाठी मारोगे तो वह कुत्ता लाठी चबायेगा मारने वालेको न चबायेगा। उस कुत्तेको यह दृष्टि होती है कि मुझे इस लाठीने पीट दिया, पर लाठी बेचारी क्या पीडा दे। पीडा देने वाला तो वह पुरुष है, सो देखा ही होगा कि कुत्तेको कोई लाठी मारे तो वह लाठीको चबाता है और सिंहको कोई तलवार मारे, लाठी मारे तो वह तलवार लाठी पर ध्यान नही देता, वह तो सीधे उस मारने वाले पुरुष पर ही हमला करता है। तो सिंहकी निर्णयके बारेमें शुद्ध दृष्टि है और कुत्तेकी अशुद्ध दृष्टि है यही अन्तर आ गया है।

ज्ञानी और अज्ञानीके निर्णयकी पद्धति—इस बातसे समझना है कि मिथ्यादृष्टि जीव निमित्तपर लक्ष्य रखता है और अपने उपादानकी कमजोरी को भूल कर निर्णय करता है—इस पुरुषने मुझे इतना नुकसान पहुँचाया, इस पुरुषने मेरा अपमान किया, इस प्रकारकी अज्ञानीकी दृष्टि जमेगी किन्तु यह दृष्टि न आयगी कि मैं स्वय अज्ञानी हूँ सो अज्ञानसे ही अपने आपमे अटपट कल्पनायें कर लेते है। कल्पनासे ही दुःखी होता हूँ यह दृष्टि अज्ञानीकी नही रहती है। जैसे कुत्तेको यह दृष्टि नही होती है कि मेरे को मारने वाली वास्तवमे लाठी नही है, ऐसे ही इस अज्ञानीका मिथ्याश्रद्धान, मिथ्याज्ञान, मिथ्या आचरण है। वह तो दूसरोको विरोधी अथवा खोटा मान लेगा और ज्ञानी पुरुषकी दृष्टि निर्णयके बारेमें उस सिंहकी तरह है। वह यही समझता है कि मेरेको दु.खी करने वाला मैं खुद हूँ, दूसरा

कोई मनुष्य दुःखी नही करता, मैं ही यथार्थ निर्णय नही रख रहा हूं, अपने आपके शुद्ध स्वरूपको नही पहिचानता हूं और विरुद्ध अटपट विपरीत बातें सोचा करता हूं। इसलिए उसका फल ही यह है कि दुःख होगा।

हितकर्तव्यका अनुरोध—भैया ! अन्यत्र अपना कही कुछ नही है, पर उन्हें अपना मान रहे हैं कि यह मेरा है। जरा अपने शरीरके भीतर और अन्तरमें प्रवेश करके निहारो तो अपना यह आत्म प्रभु अमूर्त आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्द भाव मात्र है। इसका कहीं कोई मकानभी है क्या ? इसका कही कोई परिवारभी है क्या ? अरे यह तो शरीरसे भी न्यारा है। इसका तो शरीर भी साथी नही है। ऐसा सबसे प्रकट न्यारा यह मैं हूं और माना विरुद्ध श्रद्धामें यह कि यह मेरा मकान है, यह मेरा कुटुम्ब है, तो बताओ जब स्वयं अपराध कर रहे हैं तो दुःखी कौन होगा ? स्वयंको ही तो दुःखी होना पड़ेगा। इस वास्ते यह निर्णय रखो कि मेरा शरण मेरा सम्यग्ज्ञान ही है। दूसरा कोई शरण नही है, अपना ज्ञान सम्हालें, ज्ञानका अर्जन करें तब तो लाभ है। एक धर्मकी धुनमें एक दो दिन धर्म खूब कर लिया यो धर्म नही होता है किन्तु प्रतिदिन अपना कुछ समय नियत धर्म-साधनामें ज्ञानार्जनमें लगावो तो उससे कुछ लाभ मिलेगा। तो अपने आपमें ऐसा सकल्प करके जावो कि मुझे तो धर्म और ज्ञानका रोज-रोज काम करना है।

अनाश्रेय ६ अनायतन—निरपेक्ष निज शुद्ध अंतस्तत्त्वका अनुभव करने वाले अन्तरात्मा जब कोई बाहरमें आलम्बन लेते है तो धर्मके आयतनो का आलम्बन लेते हैं। धर्मके आयतन ६ हैं, सच्चादेव, सच्चा शास्त्र, सच्चा गुरु, सच्चे देवके मानने वाले, सच्चे शास्त्रके मानने वाले और सच्चे गुरुके मानने वाले, ये ६ आयतन है। और इनके विपरीत हैं ६ अनायतन। कुदेव कुशास्त्र, कुगुरु और इनके मानने वाले ऐसे ये ६ धर्मके अनायतन हैं। ज्ञानी पुरुष इन ६ अनायतनो का आश्रय नही करते हैं।

कुदेव अनायतन—जो देव तो नही हैं पर जिसके बारेमें देवत्वकी प्रसिद्धि करदी जाय वे कुदेव कहलाते हैं। कुदेवका यह अर्थ नही करना कि जो देव तो नही हैं और देव कहना या जो देव नही है वह कुदेव हैं यो अर्थ न कहना। देव तो हम आपभी नही हैं। तो क्या देव हो गये, कुदेव हो गये ? अर्थ यह है कि जो देव तो हैं नही किन्तु उनको देव मानने की पद्धति

बने तो कुदेव कहलाता है। कुदेव, कुदेव कोई नहीं होता है। जो देव नही है कुदेव कहो कब ? जब मानने वाले अपने आशयमे यह बात लायें कि यह देव है, और है नही देव, तो उनका नाम कुदेव है। वे स्वय कुदेव नही है।

भक्तोके आशयमे कुदेवपना—कोई भी कुदेव स्वयं कुदेव नही है, वह तो जो है सो है। पर मानने वाले कुदेव बना डालते हैं, यों ही यहा भी देखलो। कोई अरहत देवकी मूर्ति है, सर्वज्ञ देवकी, मूर्ति है और कोई यह मान्यता रखे कि ये देव मुझे बच्चे दे देते हैं। अथवा मुझे मुकद्दमा जिता देते है तो उसने तो उसे कुदेव कर डाला। यह कुदेव नही है, पर मानने वालोंका जो आशय है उस आशयका आलम्बन मूर्तिमें आ गया है। तो जो देव नही है वहा अपने देवत्वकी प्रसिद्धि की हो अथवा अन्य भक्त जनोने देवत्वकी प्रसिद्धि की हो तो उनका नाम कुदेव है। ऐसे असत्यका जो आश्रय है वही अनायतन है। और ऐसे कुदेवके मानने वाले जो लोग है उन लोगोंमे हिल मिलकर रहना उन्हे सधर्मी मानना धर्मात्मा समझना यह भी अनायतन है।

कुशास्त्र अनायतन—यो ही शास्त्रकी बात देखो—जिन शास्त्रोमे आत्माके हितकी बात लिखी हो। ज्ञानको बढाने वाले और ध्यानमे लगाने वाले मार्मिक वचन जिन शास्त्रोंमे लिखे हो वे सच्चे शास्त्र है और जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहको उत्पन्न करनेकी शिक्षा दें उन्हे कहते है कुशास्त्र। उन कुशास्त्रोमे जो बातें लिखी हैं, उनका जो अर्थ निकलता है उस अर्थका कोई आश्रय करे तो अहित होगा इस कारण वे कुशास्त्र है।

कुदेव और कुगुरुका बनावटीपन—खैर कुशास्त्र तो सीधा भी कुशास्त्र बन सकता है, उसमे उल्टी बात लिखी है सो कुशास्त्र है, मगर कुदेव तो व्यर्थ मरे। वे तो है ही नही कुदेव। वे तो जो है सो है, कोई वीतराग है, कोई सराग है। कुदेव वह है जो विषयोकी आशा रखते हो, आरम्भ करते हो, परिग्रह रखते हो, ज्ञान, ध्यान तपकी खबर भी न रखते हो और अपने आपका गुरुत्व जचायें, पुजाया चाहे वे कुगुरु है, विषयोकी आशा के वश तो ग्रहस्थ भी हैं। वे ज्ञान ध्यान तपमे भी नही लग रहे है, आरम्भ परिग्रह वहा भी है, किन्तु ये अपने आपको गुरु तो नही कहलवाते। गुरुका लक्षण न हो और अपनेको गुरु कहलवाये, ऐसी प्रवृत्ति करे तो वे कुगुरु कहलाते है। वे कुगुरु धर्मके अनायतन हैं।

अनायतनोमें निर्मूढता—कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरुको मानने वाले चाहे अपने रिस्तेदार हों, चाहे कुटुम्बके लोग हो, चाहे मित्रमण्डली के लोग हो वे भी धमके अनायतन हैं। यो ६ प्रकारके अनायतनोका सम्यग्दृष्टि आश्रय नही होता है। इतना सुलझा हुआ हृदय है इस ज्ञानीका कि रच भी अनायतनोमे मोह नही लाता है। ऐसा पुरुष अपने आपको समझता है कि मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ। रागद्वेष रूप नही हूँ। ये तो भ्रमसे कल्पनासे रागद्वेष लग गये हैं, ऐसे ही समस्त प्राणो ज्ञानानन्द स्वरूप है। किन्तु भ्रमवश कैसे बाह्य पदार्थोमें झुके जा रहे हैं। ये अपने ज्ञानानन्दका विकाश करें ऐसी परम करुणाका परिणाम होता है तो उस विवेकीके तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है।

मूढताके कार्य—साम्यक्त्वके २५ दोषोमे करीब सभी दोषोका वर्णन हुआ हैं। केवल तीन दोष और बचे हैं-लोकमूढता, देवमूढता और पाखण्ड मूढता। सम्यग्दृष्टि पुरुष इन सब मूढतावोसे दूर रहता है। और धर्मका कार्य वह है जिसके करनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी शिक्षा मिले। श्रावकोके ६ कर्तव्य बताये हैं। देवपूजा—इससे सम्यग्दर्शनकी शिक्षा मिलती है। श्रद्धा होगी तो देवोंकी पूजा करेंगे और उसमे श्रद्धा पुष्ट होगी। गुरूपासना दूसरा कर्तव्य है, उसमे चारित्रकी शिक्षा मिलती है। ये गुरु-चारित्रकी मूर्ति है। गुरुकी उपासनामे चारित्रकी शिक्षा मिलती है। स्वाध्यायमे ज्ञानकी शिक्षा मिलती है। सयममें चारित्रकी, तपमें चारित्रकी और दानमे चारित्रकी शिक्षा मिलती है। इन लौकिक कामोंके करते हुए मे कुछ रत्नत्रयका सम्बन्ध बना रहे तो वही व्यवहार धर्म है।

पर्वोमें व्यवहारधर्म या मूढता—पर्वोमे भी यह बात देखलो, जिस पर्वके माननेकी जैसी पद्धति हो उस पद्धतिका यदि रत्नत्रयकी शिक्षासे नेक भी सम्बन्ध हो तो भी व्यवहार धर्म है। न हो सम्बन्ध तो वह व्यवहार धर्म नही है। फाग खेलते है, कीचड डालते हैं, लडाई होती है तव अगर रत्नत्रय की शिक्षा मिलती हो तो मानलो धर्म है, वीरनिर्वाणदिवस मनाते हैं, आजके दिन भगवान महावीर मोक्ष गये थे, ऐसा जान कर पर्व मना लिया तो वह व्यवहार धर्महै। जिस कार्यसे रत्नत्रयका कुछ सम्बन्ध हो वह तो धर्म है और न हो रत्नत्रयका सम्बन्ध तो वह धर्म नही है।

लोकमूढता—लोकमूढतामे धर्म नही है। लोककी परम्परासे जो चलता

आया है सो मान लिया वह धर्म नही है। कहते हैं कि कोई साधु महाराज जमुनामें नहाने गये, उनके पास था कमण्डल। उन्होंने सोचा कि नहाते समय कोई कमण्डल हो न उठा ले जाय सो पासमे ही रेतमें एक छोटासा ढेर बनाकर उसमे कमण्डल गाड दिया। अब बहुत दूर-दूरके लोग स्नान करने आ रहे थे, सोचा यह तो कोई ऊंचा सन्यासी है, यह रेतका भटूना बनाकर फिर स्नान करने गया। सो उन सबने भी एक-एक रेतका भटूना उसी जगह पास-पास ही बना दिया। अब तो बहुतसे रेतके ढेर उसी जगह होगए। जब वह साधु महाराज स्नान करके लौटे तो देखा कि उसी जगह आस-पास ५०, ६०, ७० रेतके भटूने बने हुए थे। लो अब उसका कमण्डल ही गायब हो गया। तो यह क्या है ? मूढता ही हुई ना। देहातोमे रास्ता चलते किसी जगह १०-५ पत्थर रखे हो तो प्रत्येक यात्री एक पत्थर उठाए और उस ढेरमें उस पत्थरको डाल दे। लो वह तो परम्परा चल गयी। बहुत बड़ा ढेर बन गया। अब लोग समझे कि यहां तो कोई देवता रहता है, उसकी मान्यता हो गयी।

लोकमूढतामे फुल्लन देवी—एक कथानक सुननेमें आता है कि कोई साधारण सयासी था। उसे कही भिक्षामे लडडू मिल गया, वह लिए जा रहा था, अचानक ही हाथसे छूटकर वह लड्डू मैंलामे गिर गया। खानेकी तेज आशक्तिमे उसने उस मल परसे उस लडडूको उठा लिया और पोंछ डाला। और उसी जगह कुछ फूल डाल दिया, फूल तो इसी हेतु डाले कि कोई मैला की बात न समझ पाये। तब लोगोने सोचा कि यहा साधु महाराज निहुरे क्यों ? वहां जाकर देखा तो कुछ फूल पड़े हुए मिले। फूल तो इसलिए डाल दिया था कि लोग पोल न जान पाये पर लोगोने समझा कि यहां कोई देव है। सो सबने उस स्थान पर फूल डालना शुरू किया। वहां पर थोडी ही देरमे फूलोका बहुत बड़ा ढेर लग गया। लो, सब लोग फुल्लन देवी मानने लगे। थोड़ी देर बाद एक विवेकी ने सोचा कि आखिर किस बातपर फूल चढ़ाये जा रहे है, जरा समझ तो लें। उसने उन फूलोंको हटाया हटानेके बाद जो निकला उसको देखकर ग्लानिके मारे भग गया। तो यह लोक-मूढताकी ही बात हुई ना।

लोकमूढताकी रूढिया—लोकमूढताकी कितनी बातें बतायें। कोई पुरुष मुर्दाका हाड़, नख आदि नदी तक पहुँचानेमे उसकी मुक्ति मानते हैं। अब देखो लोक मूढताकी बात कि वह तो मरनेके बाद जहां जन्म लेना था

ले लिया। हाड़, नख आदि तो जुदी चीजें हैं, उन्हे किसी नदीमे सिरानेसे क्या होगा ? नदीमे सिरवा देने से उस मरे हुए व्यक्तिकी मुक्ति होजायगी इस मान्यताको कितनी लोकमूढता कहा जाय जिन्होंने नदियोमे स्नान करने को धर्म माना है। यद्यपि स्नान करना ग्रहस्थ जनोके लिए ध्यानमें सहायक है, जो विषय कषायके गन्दे कामोमे रहते हैं वे ध्यान करनेका विचार करते हैं तो गुरुदेवकी पूजा करनेके भाव से वे विनयके कारण स्नान करते हैं और स्नान करनेमे शरीरका मल भी दूर हो जाता है, शरीर हल्का हो जाता है, कुछ उपयोगभी बदल गया। सो ध्यानके योग्य मन ठीक हो यहा तक तो सही है किन्तु नदीमे स्नान करनेसे ही मेरी मुक्ति हो जायगी ऐसा होता है तो १०, २०, ५० हत्यायें करके नहाडाले—लो पाप धुल गए। अरे धर्म तो आत्माके शुद्ध परिणामोमे है। लेकिन इन बाहरी बातो को धर्म माने तो वह लोकमूढता है।

लोकमूढतामें सिद्धान्तका लोप—हे आत्मन् ! धर्म तो इतना ही है कि रागद्वेष न करें, पर वस्तुमें मोह भाव मत लावें, यह बात यदि बनती है तो आप अब भी धर्म कर रहे हैं। और यह बात न बने तो फिर धर्म बधमे कुछ भी फर्क न आयगा। लोकमूढताकी बातोको कहा तक कहा जाय। मरे हुए का प्रति वर्ष श्राद्ध करना, तत्त्वसे यह तो बतावो कि तुमने अपने हाथसे कोई चीज नदीमे डाल दी या किसीको दे दी तो वह चीज उस जीव के पास पहुँचेगी क्या जो कि मर कर न जाने कहा पहुँचा ? किस तरह पहुँच जाता है कुछ युक्ति तो बतावो ? जो अपने जीवनमे जैसा परिणाम करे, धर्म करे बस वही साथ जाता है अन्य कुछ साथ नही जाता है, यहां तक कि मर जाने के बाद उसके नाम पर भी दस-पाच हजारका दान करदे कुटुम्बी, उसका भी फल उस मरने वाले को नही मिलता है। उसके भावमे कोई बात आये तब तो फल मिले। यह तो जिन्दा रहने वालोने अपना पोजीशन ठीक रखने के लिए और मरे हुए व्यक्तिका आदर बढाने के लिए यह कार्य किया है, दान दिया है, पर किसीके मर चुकनेके बाद उसके नाम पर कोई कितना ही दान करे, उससे लाभ कुछ नही है।

धर्मकी अहर्निश आवश्यकता—सच बात पूछो तो जिन्दगी भर कोई कुछ धर्म न करे और मरते समय ही कोई बडा धर्म कर जाय, दे दिया १० हजार २० हजार तो मेरे ख्याल से वह भी लाभकर उतना नहीं है। अरे जिन्दगी भर रोज-रोज करना चाहिए था कुछ न कुछ त्याग अपनी शक्ति माफिक

जिससे सारे जीवन भर ज्ञान भावना पवित्र रहती। पर किया न गया कजूसीके कारण, अब मरते समय सोच रहे हैं कि छूट तो रहा ही है— 'रिपटपरेकी हर गङ्गा' न कर लें दे डाले अब कुछ धन तो दान हो जायगा। वह पुण्य इस कारण किया जाता है कि धरा रहेगा, धन तो कोई न कोई दिन ऐसा आयगा कि जिससे आज पटती नही है वही उस धनका मालिक बन जायगा, इसलिए दान करदो। दानका शुद्ध रूप यह है कि रोज-रोज अपने जीवन मे दान करते रहे, और कोई विशेष दान किसी अवसर पर कर ले पर आदत होनी चाहिए रोज दान करने की। थोडा करें, शक्ति माफिक करें, शक्तिसे अधिक नही कह रहे। पर दान कर्तव्य की श्रेणीमें देते रहना चाहिए।

किसी मरे हुए के पास श्राद्ध करके लोग कोई चीजे पहुँचानेकी दम भरते हैं, पर सोचो तो सही कि उसमे कितनी बिडम्बनाये है। लेने वाले कहते है कि बढ़िया पलग लावो, हम तुम्हारे उस मरे हुए के पास पलंग पहुँचा देगे और दक्षिणामे कुछ धरा लेते हैं। कही सुना है कि दक्षिणा में किसी पण्डा ने किसीकी स्त्री धरा ली थी। बहुत कोशिश करने पर बहुत रुपये खर्च करने पर उस पण्डाने उसकी स्त्री वापिस की। तो ऐसे दान करनेसे कितनी ही बिडम्बनाये बन जाती हैं।

लोकमूढतामे अक्लका दिवाला—अरे भैया! धर्म तो आत्माका आत्माके पास है अन्यत्र कहा बुद्धि लगायी जा रही है। ऐसी अनेक लौकिक कथायें है जिनमे दिखता है कि लोगोमें कितनी मूढताये भरी हुई हैं। मूढताकाभा व सम्यग्दृष्टि पुरुषमे नही आता है कही पेड पर धज्जी बांधते हैं जहां कही चार-छः धज्जी बधी हैं तो लोग सोचते है कि यह देव इस धज्जीमे ही बधा हुआ है। धज्जी मायने फटा कपड़ा, वह फटा कपड़ा कही बाध दिया लो धज्जी देवता हो गये। अरे देव तो एक स्वरूपका है जो निर्दोष है, सर्वज्ञ है। लोकमूढता सम्यग्दृष्टि पुरुषके नही होती है।

लोकमूढताकी प्राणघातिनी प्रवृत्ति—यथार्थ तत्त्वका ज्ञाता आत्मा लोक-मूढतासे परे रहता है। कितनी ही मूढतायें हैं, उनमे से कुछ तो बतायी थी, कुछ और सुनिये। एक सत्ती होने की मूढता अर्थात् पतिके मर जाने पर उस पतिकी चिताके साथ जो उसकी स्त्री जल जाय तो वहां लोग मढिया बनाते है और सोचते है कि यह सत्ती है। अब क्या यह धर्मका रूप है।

ऐसे जलकर मरनेमें क्या विशुद्ध भाव आता है, अज्ञान तो पहिलेसे ही था और सक्लेश करके मरण होने पर देवता मान लेवें। कर्तव्य तो यह था कि अपना शेष समय धर्म ध्यानमे और आत्मज्ञानमे व्यतीत करती जिससे कि गृहस्थीमें बसनेकी अपेक्षा भी अधिकतम लाभ होता।

आवसरिक आत्मबल—एक भवदेव भावदेवका किस्सा है। पुराने समय की बात है दो भाई थे—भवदेव और भाव देव। भव देव बडा भाई विरक्त होकर मुनि हो गया और भाव देव छोटा भाई शादी करके आया, घर पैर रक्खा, एक आध दिन ही रहा, भोजन शुद्ध बना ही था, भोजन करने से पहिले वह ताजा दूल्हा पड़गाहने लगा। कोई मुनि आयें तो पड़गाह कर अन्नदान करके खायें। आप समझ लीजिए कि पहिले ऐसी धर्म प्रथा थी कि चाहे कैसी ही स्थिति हो सूतकपातक दिनो को छोडकर शेष सब समयोंमें वही क्रियायें चलती थी, वहा यह बहाना न था कि अब तो विवाह के दिन हैं अभी १० – १५ दिन आहार नही दे सकते। रोज आहार दे सकते हैं। विवाह विवाह की जगह है और आहार आहार की जगह है। सो वह भवदेव ही आगया, आखिर उन्हे आहार करा कर भावदेव उन्हे पहुँचाने चले। कई मील तक चले गये भवदेवने यह न कहा तुम लौट जावो घर। अब भावदेवने वहा देखा कि भवदेवका बडा सम्मान था उनकी सेवाका वाता-वरण देखकर भावदेवकी यह हिम्मत न हो कि मैं यहां से लौट कर घर जाऊं कुछ तो यह सोचा कि मैं लौटकर घर जाऊं तो इसमे बडे भाईका अपमान है। लोग कहेंगे कि यह ऐसे सत पुरुषका भाई है, यह अज्ञानमे फसा हैं। दूसरे उसके भी कुछ विरक्ति आयी सो वही मुनि हो गया। कई वर्ष हो गए जब भावदेव न आया और पता भी पड गया कि मुनि हो गये तो उसकी स्त्री वही महलमें ही एक मन्दिर वनवाकर धर्म ध्यानसे रहने लगी। बहुत ही सात्त्विक वृत्तिसे रहकर धर्म ध्यानमे ही रहा करती थी।

आवसरिक क्रान्ति—अब कई वर्ष बाद भावदेवके मनमे यह चिन्ता उपजी कि मैंने उस स्त्रीको देखा भी नही, ऐसे ही छोडकर मैं साधु हो गया। अब उसके दिन कैसे व्यतीत होते होगे। कही वह पापमें व्यसनोमे अथवा आकु-लतामे तो न होगी। इसी ध्यानसे भावदेव उस नगरमे आया। मुश्किलसे तो हवेली मिली, क्योंकि उसका आकार प्रकार बिल्कुल बदल गया था। खैर पहुँचे मन्दिरमे, दर्शन किया। दर्शन करके एक स्त्रीसे पूछा भावदेवने कि पहिले यहा कोई स्त्री रहती थी? वह स्त्री उस भावदेवकी ही थी, किन्तु भाव-

देव को क्या पता। स्त्री सारी बाते समझ रही थी उसने घूंघटमे शकल देख रक्खी थी। भावदेव नही जानता था। सो वह स्त्री कहती है हा महाराज थी तो वह स्त्री। तो अब वह क्या करती है ? कैसे समय व्यतीत होता है ? तो स्त्री बोली महाराज आप शल्य सब छोड़ दीजिए। आप साधु होकर यह शल्य क्यो रखते है, वह स्त्री मैं ही हूँ। अब मेरा बहुत ही अच्छा समय धर्ममे व्यतीत होता है, अपनी रात दिनकी चर्या सुनाई। भावदेव निशंक होकर चला गया। तो पुरुषका, स्त्रीका दोनोका कर्तव्य धर्म पालनका है। अवसर मिलता है कभी तो उस अवसरका लाभ उठाना चाहिए। किन्तु ऐसी प्रथा जो कि नियमके विरुद्ध है, सरकारके कानूनके विरुद्ध है और फिरभी मूढता-वश कोई स्त्री मर जाय और उसे लोग सत्ती माने तो यह लोकमूढता है।

लोकमूढताके आशय—और भी अनेक मूढतायें है जैसे—सकट दूर करनेके अर्थ सोने चादीकी कुछ मूर्ति बनाकर ग्राहकोको प्रसन्न करना और शातिके लिए इतना श्रम करना, सक्रातिका दोष मनाना टालना और-और भी जितना अपने सुख साताके लिए देवी देवताओकी मान्यता की जाय यह कितनी मूढता है। कोई-कोई तो बलि तक चढाते है—ये सब लोकमूढताये है। और क्या यह भी लौकिक मूढता नही है कि चाहे वह जिन प्रतिमा ही क्यो न हो, उसके समक्ष चढावा करें कि मेरे सन्तान हो, स्त्री हो, विवाह हो, मुकद्दमा जीतें, यह जिताने वाले है ऐसी श्रद्धा बनाये और जब भी कोई सकट आये तो बस वही एक उपाय करे। यद्यपि यह बात सुननेमे कुछ असगत हो सकती है कि भाई संसार ग्रस्त देवी देवियोके पास जानेसे तो यहा मानता करना भला, पर यह बात नहीं कह रहे हैं। उसने तो यहा भगवान ही नही माना, किन्तु अपना कुल देवता माना है। और इसीलिए ऐसी भी श्रद्धा हो जाती हैं कि हमारे इस लडकेको तो महावीर स्वामीने दिया है। अमुक स्वामोने दिया है। अब बतलावो प्रभुमे कितने अवगुणकी बातें लगा रहे है। ये सारी चीजें आत्मस्वरूपकी दृष्टिमें बाधा डालने वाली हैं, जो बाते निज सहज स्वरूपकी दृष्टिमे बाधा डाले वे-सब बाते अधर्म है।

अचेतनमे देवत्वकी मूढता—यह त्रिसूलकी पूजा कबसे चली है ? एक पौराणिक घटना हैं कि कुछ चोर लोग चोरी करने जा रहे ये तो रास्तेमे कोई साधु ध्यान लगाये बैठा था। तो वहा यह बोली करके गये कि हमे यदि चोरीमे खूब लाभ होगा तो आधी भेट आपको चढायेंगे। इतनेमे कोई सिंह वगैरह क्रूर जानवर आया और उसने साधुका भक्षण कर लिया, अब वहा कुछ न रहा, केवल साधुका त्रिसूल रह गया जब चोर लोग चोरी

करके आये तो देखा कि साधु गायब। अब धन किसे दें तो वहा तीन अगुली पडी थी उसीको आधा धन चढा दिया। लो तबसे त्रिसूलकी पूज्यता हो गयी।

धार्मिक और अधार्मिक व्यवहारकी कसोटी—भैया ! कसौटी केवल एक है। धर्म और अधर्मकी परख करनेकी। जिस प्रवृत्तिमे अपने आपकी ओर आने का मौका मिलता है वह प्रवृत्ति तो है धन और जिन प्रवृत्तिमे हम आत्मासे और उल्टा भाग जाते हैं वह है सब अधर्म। पेडोंका पूजना, पेड़मे, सूत बाधना, धागा बांधना, चौथडे बाधना—कौन-कौन सी बात कहे ये सब लोकमूढतायें है। और धर्म तो अपने आत्माका स्वभाव है, चैतन्य भाव है। शुद्ध ज्ञानानन्दमय स्वरूप है उसका आश्रय करना है, उसकी दृष्टि रखना है। अहो, यह कितना बडा अघेरा है। सम्यग्दृष्टि पुरुष लोकमूढतावो से परे रहता है उसके तो अपने बारेमे यह चिन्तन रहना चाहिए कि मैं सबसे विविक्त ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ और समस्त पर जीवोके सम्बन्धमे यह विचारो कि अहो ये सब प्रभु स्वरूप है, किन्तु अपने आपका महत्त्व भूलकर इन असार बाह्य पदार्थोंमें लीन होना युक्त नही है।

निर्मोहताके साहसकी आवश्यकता—प्रथम तो देखो भैया ! शरीर ही जुदा है, फिर पत्थर, सोना, चादी, मकान, दूसरे जीव जिनका मुझमे अत्यन्ताभाव है, त्रिकाल सग प्रसग नही होता, उनमे विश्वास बनाये हैं, यह अपने आप पर अन्याय है। दूसरे तो जैसे हैं सो है। अपने आपपर कृपा करनी हो तो अतरगमें साहस बनाना होगा कि मेरा कही कुछ नही है, मै अकिञ्चन हूँ, केवल ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा बनानी होगी, अन्यथा जैसे भटकते आये हैं वैसे ही भटकते रहेगे।

ज्ञानीमे देवमूढताका अभाव जैसे लोकमूढतासे परे यह सम्यग्दृष्टि है यो ही देवमूढतासे भी यह परे है। देव कुदेवका विवेक न करके ऐसोको देव मानना—जिनके चारित्रमे काम भरा है, क्रोध भरा है अपनेको शस्त्रधारी बनाए हैं और फिर भी वे भगवान परमेश्वर हैं, उनके परमेश्वरताका रूप देना यह है देवमूढता। अरे परमेश्वर तो शुद्ध ज्ञानपुञ्ज हैं। परमेश्वरता कहा देखते हो महावीर, राम, तीर्थंकर इनका नाम लेकर हम जो समझते हैं वे परमेश्वर नही है। यो कह लीजिए कि त्रिसलानन्दन महावीर परमेश्वर न थे किन्तु त्रिसलानन्दन महावीरके भवमे जो एक ज्ञानपुञ्ज थे, उस शरीरसे जो जुदे थे वे परमेश्वर थे। कहां तो यह स्वरूप और कहा काम, क्रोध

युद्ध शास्त्र इन प्रसंगोमे रहते हुएको हम आप परमेश्वर माने यह क्या है ? यह अपने स्वरूपसे बाहर होनेकी प्रवृत्ति है। यह सब देवमूढता है।

अन्तरात्माके पाखण्डिमूढताका अभाव—पाखण्ड मूढता भी सम्यग्दृष्टि पुरुष मे नही होती है। पाखण्डका अर्थ बड़ा अच्छा है। पाखण्डी मायने सत पुरुष—जो पापोंका खण्डन करें, दूर करें, विनाश करें उनका नाम है पाखण्डी। पर हो तो कोई तुच्छ और उसका बडा नाम लगावे—आइए पाखण्डी महाराज। की उसे ऊंची बात मगर वह गाली बन गयी। जैसे कोई हो कंजूस और उससे कहे कि आइए कुबेर साहब तो वह गाली मानेगा कि नही ? हालाकि उसे बुरी बात नही कही पर उसमे उतनी योग्यता न थी सो गाली बन गई। तो पाखण्डियोके विषयमे अर्थात् साधु सतोके विषय मे मूढता होना तो पाखण्ड मूढता है। जो हीन आचरण वाले हैं। आरम्भ परिग्रहमे मस्त हैं, विषयोके लोलुपी है उनको मानना कि ये बडे करामाती है, ये प्रसन्न हो जायें तो मनोवाछित कार्योंकी सिद्धि हो। यह विजयी पुरुष है, ऐसी विपरीत मान्यता करके उनका संग करना, उनकी सेवा सुश्रूषा करना, अपनेको कृतार्थ मानना यह सब पाखण्ड मूढता है।

ज्ञानीमे प्रशमभावका अभ्युदय—यों इन समस्त दोषोंसे रहित सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जगतके जीवोंके कल्याणकी भावनाके प्रसादसे धर्मका नेता बनता है। ऐसे संत पुरुषमें स्वभावत: ऐसी शाति आती है कि कोई अपराध भी करे. तुरन्त अपराध करे अथवा पहिले अपराध किया हो तो उसे क्षमा कर देता है। वह जानता है कि जगतके सभी जीव एक स्वरूप है, एक सदृश है, भिन्न हैं, सब भिन्न है, पर स्वरूप सबका एक समान है। यहा मेरा विरोधी कौन ? मेरा मैं ही विरोधी हूँ जब रागद्वेष मे आता हूँ। मेरा मैं ही मित्र हूं जब मैं निज ज्ञानानन्द-स्वरूपको देखता हूँ, ऐसा निरखकर उन सब जीवो पर क्षमा भाव रखता है।

क्षमामें वीरता—क्षमा वीर पुरुष ही कर सकते हैं कायरोसे क्षमा नही हो सकती हैं। जैसे भोगोका भोगना कायर पुरुषो का काम है। और भोगोका छोडना वीर पुरुषोका काम है। ऐसे ही थोडेसे प्रसंगोमें क्रोध आजाना कायर आत्मभावोका काम है और अपने मे धैर्य रखना, समभाव रखना यह वीरो का काम है। क्षमासे स्वयको शाति प्राप्त होती है और दूसरे भी सुखी हो जाते हैं। क्षमा दूसरो पर एहसान डालनेके लिए नही की जाती है। क्षमा करनेसे स्वयका लाभ है, दूसरोको लाभ हो या न हो, जिसका होनहार ठीक

है उनमे ही क्षमा करनेका भाव बनता है। आज क्षमापणका दिन है, वर्ष भर जो हम दूसरोका अपराध करते हैं एक कोई समय होता है जिस दिन सकोच होते हुए भी खुलकर मिलनेका अवकाश मिलता है। बहुत दिनोकी बुराई हों तो दिलमें संकोच रहा करता है कि मैं कैसे पहिले उससे बोलू—और-और भी बातें सोचते हैं किन्तु यह क्षामायणका दिवश अवकाश देता है इस दिन तो प्रशमके कर्तव्यका विवेक बन जाना चाहिए। कोई भी हो जो भी दिखे उससे वे गले मिल जायें। सम्यग्दृष्टि पुरुषमे क्षमाका स्वभाव पड़ा हुआ है।

अन्तरात्माके सवेगादिक गुण—ऐसे ही धर्ममे अनुराग, संसारसे वैराग्य होना सम्यग्दृष्टिका लक्षण है। सर्व जीवोमें करुणाभाव होना सम्यग्दृष्टिका नैसर्गिक गुण है। और वह किसी भी अविवेकी, अज्ञानी अपराधीमे न राग करता है, न द्वेष करता है किन्तु ज्ञाता दृष्टा रहता है। अपना आनन्द अपने आपको सम्हालनेमे भरा हुआ है। बाहर कहीं नही पड़ा है। जो उनसे निकलकर आये, फकीर हो, फक्कड हो, निष्परिग्रही हो। जिसको अपने आपसे बातें करना आता है वह सबसे बडा वैभववान है। जो दूसरो से बातें करके दीन बनता है वही तो दरिद्र है। यह सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा अपने आपको शुद्धिकी प्रगति मे ले जाता है और प्रसगमे आए हुए जीवोके भी उपकारका निमित्त होता है।

ज्ञानीकी निष्कामवृत्तिमे समृद्धि—ज्ञानी सत पुरुष विश्वके उत्थानकी करुणाके भावसे ऐसी विशिष्ट पुण्य प्रकृतिका बध करते हैं कि वह तीर्थंकर प्रकृति उदयमे भी नही आ पाती। उससे ही पहिले देव और इन्द्र जन उसकी सेवामें तत्पर होजाते हैं। ऐसा वर्णन सुनकर यह भाव नही बनाना कि मैं भी ऐसा तीर्थंकर बनूं। बन जावो, पर मागने से नही बना जा सकता। इसमे तो मोह भाव आया, अपना पोजीशन चाहने का परिणाम जगा है। परिणाम होना चाहिए शुद्ध तत्त्वके दर्शनका और उस शुद्ध तत्त्वके आलम्बन के प्रसादसे संसारके समस्त संकटोसे छूटनेका। अपने आपकी करुणा करो। यह विश्व लुटेरी जगह है, यहा किसीभी बाह्य तत्त्वमे दृष्टि देकर शांति सतोष नही हो सकता। अपने अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्दकी निधि सुरक्षित करना, यह होगा अपने आपके स्वरूपके परिचयसे। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि पुरुष विश्वके उपकारकी भावनाके प्रसादसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है, इस परिणामको कहते है दर्शन विशुद्धि। यह तीर्थंकर प्रकृति उस बधके कारणोंमें प्रथम भावना है।

———

सोलह कारण भावना।

सवैया तेईसा।

दर्शनविशुद्धि।

दर्शन शुद्ध न होवत जो लग तो लग जीव मिथ्याती कहावे,
काल अनन्त फिरो भवमे महादुःखनको कहूँ पार न पावे।
दोष पचीस रहित गुण अम्बुधि सम्यकदर्शन शुद्ध ठरावै,
ज्ञान कहे नर सोहि बडो मिथ्यात्व तजे जिन मारग ध्यावै॥ १॥

विनय सम्पन्नता।

देव तथा गुरुराय तप संयम शील व्रतादिक धारी,
पाप के हारक काम के छारक शल्यनिवारक कर्म निवारी।
धर्मके धीर कषायके भेदक पच प्रकार संसारके तारी,
ज्ञान कहे विनय सुखकारक भाव धरो मन राखो विचारी॥ २॥

शील व्रतेष्वनतिचार।

शील सदा सुखकारक है अतिचार विवर्जित निर्मल कीजे,
दानव देव करे तसु सेव विषानल भूत पिशाच पतीजे।
शीलबडो जगमे हथियार जु शीलको उपमा काहेकी दीजे,
ज्ञान कहे नही शील बराबर तातें सदा दृढ़ शील धरीजे॥ ३॥

अभीक्षण ज्ञानोपयोग।

ज्ञान सदा जिनराजको भाषित आलस छोड पढ़े जो पढावे,
द्वादश दोय अनेक हुँ भेद सुनाम मति श्रुति पंचम पावे।
चार हुँ भेद निरन्तर भाषित ज्ञान अभीक्षण शुद्ध कहावे,
ज्ञान कहे श्रुति भेद अनेक जु लोकालोक हि प्रगट दिखावे॥ ४॥

सवेद।

भ्रातन तातन पुत्र कलत्रन दुर्जन सज्जन ए सब खोटो,
मन्दिर सुन्दर काय सखा सबको इहको हम अन्तर मोटो।
भावके भाव धरी मन भेदन नाही संवेग पदारथ छोटो,
ज्ञान कहे शिव-साधनको जिमि साहको काम करे जु बणोटो॥ ५॥

शक्तितस्त्याग।
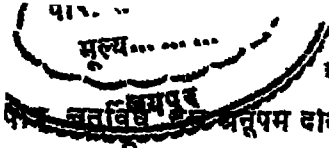
[illegible] चतुर्विध [illegible] अनूपम दान चतुर्विध भावसु दीजे,
शक्ति समान अभ्यागतको अति आदरसे प्रणिपत्य करीजे।
देवत जे नर दान सुपात्रहिं तास अनेकहिं कारण सीजे,
बोलत ज्ञान देहि शुभ दानजु भोग सुभूमि महासुख लीजे ॥ ६ ॥

तप।

कर्म कठोर गिरावनको निज शक्ति समान महातप कीजे,
बारह भेद तपे तप सुन्दर पाप जलाजलि काहे न दीजे।
भाव धरो तप घोर करी नर जन्म सदा फल काहे न लीजे,
ज्ञान कहे तप जे नर भावत ताके अनेकहिं पातक छीजे ॥ ७ ॥

साधु समाधि।

साधुसमाधि करो नर श्रावक पुण्य बड़ो उपजे अघ छीजे,
साधुकी संगति धर्मके कारण भक्ति करे परमारथ सीजे।
साधुसमाधि करे भव छूटत कीर्ति छटा त्रैलोकमे गाजे,
ज्ञान कहे यह साधु बडो गिरिशृङ्ग गुफा बिच जाय विराजे ॥ ८ ॥

वैया वृत्यकरण।

कर्म योग व्यथा उदई मुनि पुंगवको तसु भेषज कीजे,
पित्तकफानल सांस भगन्दर तापको सूल महागद छीजे।
भोजन साथ बनायके औषध पथ्य कुपथ्य विचारके दीजे,
ज्ञान कहे नित ऐसी वैय्यावृत्य करे तसु देव पतीजे ॥ ९ ॥

अरहन्त भक्ति।

देव सदा अरहन्त भजो जेई दोष अठारा किए अति दूरा,
पाप पखाल भये अति निर्मल कर्म कठोर किये चकचूरा।
दिव्य अनन्त चतुष्टय शोभित घोर मिथ्यान्ध निवारण सूरा,
ज्ञान कहे जिनराज आराधो निरन्तर जे गुण मन्दिर पूरा ॥ १० ॥

आचार्य भक्ति।

देवत ही उपदेश अनेक सु आप सदा परमारथ धारी,
देश विदेश विहार करें दश धर्म धरें भव पार उतारी।
ऐसे आचारज भाव धरी भज सो शिव चाहत कर्म निवारी,
ज्ञान कहे गुरु भक्ति करो नर देखत हो मनमाहिं विचारी ॥ ११ ॥

बहुश्रुत भक्ति।

आगम छन्द पुराण पढ़ावत साहित्य तर्क वितर्क बखाने,
काव्य कथा नव नाटक पूजन ज्योतिष वैदिक शास्त्र प्रमाने।
ऐसे बहुश्रुत साधु मुनीश्वर जो मनमे दोउ भाव न आने,
बोलत ज्ञान धरी मनसा न जु भाग्य विशेषतें जानही जाने ॥१२॥

प्रवचन भक्ति।

द्वादश अङ्ग उपांग सदागम ताकी निरन्तर भक्ति करावे,
वेद अनूपम चार कहे तस अर्थ भले मन माहिं ठरावे।
पढ़ बहु भाव लिखो निज अक्षर भक्ति करी बहु पूज रचावे,
ज्ञान कहे जिन आगम भक्ति करो सद बुद्धि बहुश्रुत पावे ॥१३॥

आवश्यकापरिहाणि।

भाव धरे समता सब जीव सु स्तोत्र पढ़े मुखसे मनहारो,
कार्योत्सर्ग करे मन प्रोत सु बन्दन देव तणो भव तारो।
ध्यान धरी मद दूर करी दोउ बेर करे पडकम्मन भारी,
ज्ञान कहे मुनिसो धनवन्त जु दर्शन ज्ञान चरित्र उधारो ॥ १४ ॥

मार्ग प्रभावना।

जिन पूजा रचो परमारथसूं जिन आलय नृत्य महोत्सव ठाणो,
गावत गीत बजावत ढोल मृदगके नाद सुधाग बखाणों।
संग प्रतिष्ठा रचो जल जातरा सद्गुरुको सामोकर आणो,
ज्ञान कहे जिनमार्ग प्रभावना भाग्य,विशेषसूं जानहिं जाणो ॥१५॥

प्रवचन वात्सल्य।

गौरव भाव धरी मनसे मुनि पुङ्गवको नित वत्सल कीजे,
शीलके धारक भव्यके तारक तासु निरन्तर स्नेह धरीजे।
धेनु यथा निज बालकके अपने जिय छोडि न और पतीजे,
ज्ञान कहे भवि लोक सुनो जिन वत्सल भाव धरे अघ छीजे ॥१६॥

सवैया तेईसा।

सुन्दर षोडषकारण भावना निर्मल चित्त सुधारक धारै,
कर्म अनेक हने अति दुर्धर जन्म जराभय मृत्यु निवारै।
दुःख दरिद्र विपत्ति हरै भव सागरको कर पार उतारै,
ज्ञान कहे यही षोडषकारण कर्म निवारण सिद्ध सुधारै ॥ १७ ॥
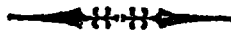
श्री वर्णी साहित्य मन्दिर की कार्यकारिणी समिति के सदस्य

(१)	श्रीमती दानशीला धनवन्ती देवी जैन,	इटावा	प्रतिष्ठापिका
(२)	श्री सेठ सुदर्शनलाल जी जैन,	इटावा	अध्यक्ष
(३)	,, प्रेमचन्द्र जी जैन म्युनि० कमि०,	इटावा	उपाध्यक्ष
(४)	,, जयन्तीप्रसाद जैन, रि० हैड केशियर स्टेट बैंक,	इटावा	मन्त्री
(५)	,, छोटेलाल जी जैन बजाज,	इटावा	उपमन्त्री
(६)	,, निर्मलचन्द्र जी जैन शर्राफ,	इटावा	कोषाध्यक्ष
(७)	,, हुकुमचन्द जी जैन घी मर्चेन्ट,	इटावा	सम्पादक
(८)	,, अजितकुमार जी जैन घी मर्चेन्ट,	इटावा	हिसाब निरीक्षक
(९)	,, नरेन्द्रकुमार जी जैन वैद्य,	इटावा	सदस्य
(१०)	,, पदमचन्द्र जी जैन सर्राफ,	इटावा	सदस्य

पुस्तकें मंगाने का पता :—

जयन्ती प्रसाद जैन,

मन्त्री,

श्री वर्णी साहित्य मन्दिर, सेवाकली, इटावा (उ० प्र०)